



धार्मिक, सांस्कृतिक एवं राष्ट्रीय
चेतना की पत्रिका

अंक : 80

माघ-चैत्र, 2069

2013 ई.

प्रधान सम्पादक

भवनाथ झा

सहायक सम्पादक

सुरेशचन्द्र मिश्र

महावीर मन्दिर प्रकाशन
(श्री महावीर स्थान विकास समिति)
के लिए

प्रो. काशीनाथ मिश्र

द्वारा प्रकाशित
तथा

प्रकाश ऑफसेट, पटना में मुद्रित
पत्र-सम्पर्क:

धर्मायण,

पाणिनि-परिसर,

बुद्ध-मार्ग,

पटना-800001

दूरभाष - 0612-3223293

E-mail: mahavirmandir@gmail.com

web: mahavirmandirpatna.org

मूल्य : दस रुपये

धर्मायण

विषय - सूची

1. दान की गयी भूमि के अपहरण का पाप- संपादकीय 2
2. दानमानविमर्श -डॉ. कृष्णानन्द झा 6
3. कौमुदी-महोत्सव की परम्परा और पाटलिपुत्र 10
-डॉ. श्रीरंजन सूरिदेव
4. वैदिक साहित्य में त्रयी-एक विश्लेषण 14
-प्रो० रामविलास चौधरी
5. जीवन का दर्शन : आरसी एवं टेनिसन की दृष्टि में 20
-प्रो० अशोक कुमार 'अंशुमाली'
6. श्रीकृष्ण-क्रान्ति -पं. गंगा पीताम्बर शर्मा 24
7. संत सूरजदास-कृत 'रामजन्म' काव्य-कृति' 30
-श्री युगल किशोर प्रसाद
8. 'रामायण' में 'सुन्दरकाण्ड' का महत्त्व 36
-डॉ. शिववंश पाण्डेय
9. 'मानस' में वर्णित शाप तथा उनकी दिशाएँ 38
-डॉ. श्रीकांत सिंह
10. रामचरितमानस में नगर-वर्णन -डॉ. राजेश्वर प्रसाद 43
11. 'मानस' का पुष्पवाटिका-प्रसंग -डॉ. गनौरी महतो 50
12. हस्ती मिटती नहीं हमारी -डॉ. एस.एन.पी. सिन्हा 56
13. कर्म एवं ज्ञान के बीच सम्बन्ध -भवनाथ झा 59



दान की गयी भूमि के अपहरण का पाप

(शिलालेखों/दानपत्रों से संकलित)

संपादकीय

भारत में राजाओं के द्वारा मन्दिर के नाम से धर्मार्थ भूमि अथवा अक्षयनीवी के रूप में राशि दान करने की परम्परा रही है। साथ ही, अनेक राजा तीर्थों में जाकर विशेष अवसरों पर तीर्थ-पुरोहितों, विशिष्ट ब्राह्मणों एवं याज्ञिकों को भूमिदान अथवा ग्रामदान करते रहे हैं। पुरातत्त्ववेत्ताओं ने ऐसे अनेक दान-पत्रों, शिलालेखों का संग्रह किया है जिनका प्रकाशन लगभग 200 वर्षों से विभिन्न संग्रहों में हुआ है। सभी दाता भविष्य में होनेवाले राजाओं के द्वारा उस सम्पत्ति के अपहरण की आशंका से ग्रस्त रहे हैं। अतः दान-पत्र अथवा शिलालेख में कुछ ऐसे श्लोक उपलब्ध होते हैं, जिनमें दान की सम्पत्ति के अपहरण से होनेवाले जघन्य पापों की गणना की गई है। यहाँ ऐसे कुछ श्लोक संकलित हैं जो प्राचीन शिलालेखों एवं दान-पत्रों में सामान्य रूप से मिलते हैं-

1. **भूमिदानसंबद्धाः श्लोकाः (भवन्ति)। -**
स्वदत्तां परदत्तां वा यो हरेत वसुन्धराम्।
स विष्ठायां कृमिर्भूत्वा पितृभिः सह पच्यतेति॥

कुमारगुप्त प्रथम का दामोदरपुर ताम्रपत्र अभिलेख 444 ई.

अर्थात् भूमिदान के सम्बन्ध में ये श्लोक कहे गये हैं:-

स्वयं दान की हुई या दूसरे के द्वारा दी गयी जमीन जो छीन लेते हैं, वे विष्ठा का कीड़ा बन कर अपने पितरों के साथ कष्ट पाते हैं।

2. **अपि च भूमिदानसम्बद्धाविमौ श्लोकौ भवतः।**
पूर्वदत्तां द्विजातिभ्यो यत्नाद्रक्ष युधिष्ठिर।
महीं महीवतां श्रेष्ठ दानाच्छ्रेयोनुपालनम्॥
बहुभिर्व्वसुधा दत्ता दीयते च पुनः पुनः।
यस्य यस्य यदा भूमिस्तस्य तस्य तदा फलमिति॥

कुमारगुप्त प्रथम का दामोदरपुर ताम्रपत्र अभिलेख 447 ई.

अर्थात् और भी, भूमिदान के सम्बन्ध में ये दो श्लोक कहे जाते हैं:-

हे युधिष्ठिर! पूर्व में ब्राह्मणों को जो भूमि दान की गयी है, यत्नपूर्वक उसकी रक्षा करो। हे भूमिपालों में श्रेष्ठ! दान को बरकरार रखना दान करने से श्रेष्ठ है।

बहुत लोगों ने भूमिदान किया और बार-बार दान किया करते हैं। जब जिनकी भूमि होती है तब उन्हें दान का फल मिलता है।

3. **यो व्यक्त्रामेहायमिमं निबद्धं गोघ्नो गुरुघ्नो द्विजघातकः सः।**
तैः पातकैः पञ्चभिरन्वितो धर्गच्छेन्नरः सोपनिपातकैश्चेति॥

स्कन्दगुप्त का इन्दौर ताम्रपत्र-अभिलेख-वर्ष 146

अर्थात् जो इस लिखे गये दान का व्यतिक्रमण (जिस कार्य के लिए जो सम्पत्ति दान की गयी है उससे भिन्न उपयोग) करते हैं वे गो-हत्या, गुरु-हत्या और ब्राह्मण-हत्या के भागी होते हैं तथा उन पाँच महापापों और अन्य पापों के भागी होकर नरक में जाते हैं।

4. उक्तञ्च स्मृतिशास्त्रे।

बहुभिर्व्वसुधा दत्ता राजभिस्सगरादिभिः।
 यस्य यस्य यदा भूमिस्तस्य तस्य तदा फलम्॥
 षष्टिवर्षसहस्राणि स्वर्गे मोदति भूमिदः।
 आक्षेप्ता चानुमन्ता च तान्येव नरके वसेत्
 स्वदत्तां परदत्तां वा यो हरेत वसुन्धराम्।
 स विष्ठायां कृमिर्भूत्वा पितृभिस्सह पच्यते।
 मा भूत् फलशङ्का वः परदत्तेति पार्थिवाः॥
 स्वदानात्फलमानन्त्यं परदत्तानुपालने।

शशांककालीन गंजाम ताम्रपत्र अभिलेख, 619 ई.

अर्थात् स्मृति-शास्त्र में भी कहा गया है-

सगर आदि अनेक राजाओं ने भूमि दान में दी थी। जब जिसकी भूमि होती है तब उन्हें दान का फल मिलता है।

भूमिदान करने वाला साठ हजार वर्षों तक स्वर्ग में आनन्दपूर्वक रहता है उस दान पर आक्षेप करने वाला और अपहरण करनेवाला उतने ही वर्षों तक नरक में वास करता है।

अपनी दी हुई या दूसरी के द्वारा दी हुई भूमि का जो हरण करते हैं वे विष्ठा का कीड़ा बनकर अपने पितरों के साथ दुःख झेलते हैं।

हे राजागण! यह भूमि दूसरे के द्वारा दी गयी है यह सोचकर आप लोगों को फल-प्राप्ति में शंका नहीं करनी चाहिए। दूसरे के द्वारा किए गये दान का पालन करने में अपने द्वारा किए गये दान से भी अनन्त फल प्राप्त होता है।

5. यतो भवद्भिस्सर्व्वैस्स्वभूमेर्दानफलगौरवादपहरणे च महानरकपातादिभयाद् दानमिदमनुमोद्य परिपालनीयम्। पृतिवासिभिः क्षेत्रकरैश्च आज्ञाश्रवणविधेयैरभूत्वा समुचितकरपिण्डकादिसर्व्वप्रत्यागोपनयः कार्य इति॥

बहुभिर्व्वसुधा दत्ता राजभिस्सगरादिभिः।
 यस्य यस्य यदा भूमिस्तस्य तदा फलम्॥
 षष्टिवर्षसहस्राणि स्वर्गे मोदति भूमिदः।
 आक्षेप्ता चानुमन्ता च तान्येव नरके वसेत्॥
 स्वदत्तां परदत्ताम्बा (वा) यो हरेत वसुन्धराम्।
 स विष्ठायां कृमिर्भूत्वा पितृभिस्सह पच्यते॥ इति

कमलदलाम्बुबिन्दुलोलां श्रियमनुचिन्त्य मनुष्यजीवितञ्च।

सकलमिदमुदाहृतञ्च बुध्वा नहि पुरुषैः परकीर्त्तयो विलोप्याः॥

तडित्तुल्या लक्ष्मीस्तनुरपि च दीपानलसमा।

भवो दुःखैकान्तः परकृतिमकीर्तिः क्षपयताम्।
यशांस्याचन्द्रार्कं नियतमवतामत्र च नृपाः
करिष्यन्ते बुध्वा यदभिरुचितं किं प्रवचनैः॥

धर्मपालदेव का खलीमपुर ताम्रपत्र अभिलेख, 9वीं शती

अर्थात् चूँकि अपनी भूमि का दान करने से उत्तम फल मिलता है और उसका अपहरण करने से नरक आदि में गिरने का भय रहता है अतः आप सब इस दान का अनुमोदन करते हुए पालन करें। अगल-बगल की भूमि के स्वामी तथा किसान आदेश सुनकर उचित कर, अन्न की ढेरी आदि समर्पित करें।

सगर आदि अनेक राजाओं ने भूमिदान किया। जब जिनकी भूमि होती है, उस समय उन्हें फल मिलता है।

भूमिदान करनेवाले साठ हजार वर्षों तक स्वर्ग में आनन्द करते हैं किन्तु उस पर आक्षेप करनेवाले और हरण करनेवाले उतने ही वर्षों तक नरक में रहते हैं।

अपनी दी हुई अथवा दूसरों के द्वारा दी हुई भूमि का जो हरण करते हैं वे विष्टा का कीड़ा बनकर पितरों के साथ कष्ट भोगते हैं।

कमल के पत्ते पर गिरे हुए जल के समान धन एवं जीवन को मानते हुए और सर्वस्वत्याग का उदाहरण मानते हुए लोगों के द्वारा दूसरे की कीर्ति का अन्त नहीं करना चाहिए।

बिजली की चमक के समान लक्ष्मी है और जीवन दीप की शिखा के समान क्षणिक है। इस संसार में दुःख ही दुःख है और दूसरे की कीर्ति को नष्ट करनेवाले को अपयश मिलता है। दान की रक्षा करनेवाले राजा सूर्य और चन्द्रमा के रहने तक यश के भागी होते हैं यह सब जानकर लोगों की जो इच्छा होगी वह करेंगे अधिक कहने से क्या लाभ!!

6. अथात्र पौराणिकाः श्लोकाः-

भूमिं यः प्रतिगृह्णाति यश्च भूमिं प्रयच्छति
उभौ तौ पुण्यकर्माणौ नियतं स्वर्गगामिनौ॥
योऽर्चितं प्रतिगृह्णाति ददात्यर्चितमेव वा।
तावुभौ गच्छतः स्वर्गं नरकं तु विपर्यये॥
बहुदि(भि)र्वसुधा भुक्ता राजभिः सगरादिभिः।
यस्य यस्य यदा भूमिस्तस्य तस्य तदा फलम्॥
यानीह दत्तानि पुरा नरेन्द्रैर्दानानि धर्मार्थयशस्कराणि।

निर्माल्यवत्तत्प्र(वान्तप्र)तिमानि तानि को नाम साधुः पुनराददीत॥

अस्मत्कुलं परमुदारमुदाहरद्भि-

रनै(न्यै)श्च दानमिदमचाणु(भ्यनु)मोदनीयम्।

लक्ष्म्यास्तडित्सलिलबुद्बुदचञ्चलाया

दानं फलं परयशःपरिपालनं च॥

षण्ण(शङ्ख) भद्रासनं छत्रं वराशवावरवारणाः।

भूमिदानस्य चिह्नानि मसं(फलं) [स्वर्गः] पुरंदर॥

स्वदत्तां परदत्तां वा यो हरेत वसुंधराम्।

स विष्टायां कृमिर्भूत्वा पितृभिः सह मोदते॥

गहड़वाल राजगोविन्दचन्द्र का सं. 1162 का दानपत्र

एपिग्राफिआ इण्डिका- 21359-361

अर्थात् यहाँ पर पुराणों के श्लोक कहे गये हैं-

जो भूमिग्रहण करते हैं और जो भूमिदान करते हैं, वे दोनों पुण्य कर्मवाले हैं जो निश्चित रूप से स्वर्ग जाते हैं। जो पूजित देव-विग्रह दान लेते हैं और जो पूजित देव-विग्रह दान करते हैं वे दोनों स्वर्ग जाते हैं और इसके विपरीत आचरण अर्थात् दान की गयी वस्तु का अपहरण करने पर नरक में जाते हैं। सगर आदि अनेक राजाओं ने पृथ्वी का भोग किया, जिस काल में जिस राजा की भूमि होती है वे (पूर्व में दिये गये दान का अनुपालन करते हुए) फल के भागी होते हैं। इस लोक में प्राचीन काल के राजाओं ने धर्म एवं यश के लिए दान किया। उन दानों को निर्माल्य के समान मानना चाहिए, भला कौन ऐसा होगा जो उसे पुनः ग्रहण करे। हमारा कुल परम उदात्त है, यह साबित करते हुए दूसरे लोग भी इस दान का अनुमोदन करें। बिजली के समान तथा पानी के बुलबुले के समान लक्ष्मी का परिणाम (फल) दान एवं दूसरे के यश का परिपालन करना होता है। हे इन्द्र! शंख, प्रशस्त आसन, छत्र, श्रेष्ठ घोड़ा एवं हाथी- ये भूमि दान के चिह्न (दान-पत्र पर अंकित) होते हैं और उसका फल स्वर्ग होता है। जो स्वयं दान की गई या दूसरों के द्वारा दान की गई भूमि का अपहरण करते हैं वे विष्टा (पैखाना) का कीड़ा बनकर पितरों के साथ प्रसन्न रहते हैं।

इसी प्रकार, गहड़वाल राजा गोविन्दचन्द्र के सं. 1192 के दानपत्र में दो श्लोक इस प्रकार मिलते हैं-

सर्वानेतान् भाविनः पार्थिवेन्द्रान्
 भूयो भूयो याचते रामभद्रः।
 सामान्योऽयं धर्मसेतुर्नृपाणां
 काले काले पालनीयो भवद्भिः॥
 सुवर्णमेकं गामेकां भूमेरप्येकमङ्गुलम्।
 हरन्नरकमाप्नोति यावदाहूतसंप्लवम्॥
 तडागानां सहस्रेण अश्वमेधशतेन च।
 गवां कोटिप्रदानेन भूमिहर्ता न शुद्ध्यति॥

अर्थात् भविष्य में होनेवाले सभी इन राजाओं से यह रामचन्द्र (स्वयं के लिए) बार बार याचना करता है कि यह दान-कार्य सभी राजाओं के लिए सामान्य रूप से धर्म का मार्ग है अतः सभी कालों में आप सब के द्वारा दान का पालन किया जाना चाहिए।

एक सुवर्ण (एक तोला सोना), एक गाय या एक अंगुल भूमि का हरण करनेवाला प्रलय काल के आने तक नरक का भोग करता है।

हजारों तालाब खुदवाने से, सौ अश्वमेध यज्ञ करने से या करोड़ों गोदान करने से भूमि का हरण करने वाला शुद्ध नहीं होता है।

इस प्रकार के विभिन्न श्लोक अनेक शिलालेखों/दान-पत्रों में प्राप्त होते हैं।



दानमानविमर्शः

-डॉ. कृष्णानन्द झा

भारत में दान की अवधारणा प्राचीन काल से रही है। वैदिक ब्राह्मण-ग्रन्थों में अनेक स्थलों पर राजाओं द्वारा गो-दान, भूमिदान की चर्चा आयी है। कठोपनिषद् के प्रारम्भ में ही नचिकेता के पिता द्वारा प्रिय वस्तुओं के दान का उल्लेख हुआ है। बाद में जैन एवं बौद्ध धर्मों में ही नहीं, संसार के प्रायशः सभी धर्मों में दान की महिमा गायी गयी है। महाभारत में वन पर्व में दान के विविध पहलुओं पर विवेचना मिलती है। परवर्ती साहित्य में भी धन का सबसे सुन्दर उपयोग दान माना गया है। दान करने के अधिकारी के सम्बन्ध में अगस्त्य-संहिता में कहा गया है कि गृहस्थ एवं वानप्रस्थियों को ही दान करने का अधिकार है। इसी प्रकार, दान करने योग्य वस्तु, दान करने का उपयुक्त समय, दान लेने के अधिकारी आदि का सम्यक् विवेचन शास्त्रों में विस्तार पूर्वक मिलता है।

अनेक शास्त्रों के अधिकारी विद्वान्, कामेश्वर सिंह दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय के स्नातकोत्तर व्याकरण विभाग के पूर्व अध्यक्ष डा. कृष्णानन्द झा ने दान-सम्बन्धी इन विषयों पर संस्कृत पद्यों की रचना कर पद्यात्मक निबन्ध लेखन की शास्त्रीय परम्परा को आगे बढ़ाया है। हिन्दी के पाठकों के लिए उन श्लोकों का अनुवाद भी मूल-लेखक द्वारा ही किया गया है। दान सम्बन्धी यह शास्त्रीय-विधान यहाँ प्रस्तुत है।

मङ्गलाचरण-

सर्वैश्वर्यगुणोज्ज्वलो हि भगवान् ख्यातो दयासागरो

दाता दापयिता फलस्य सततं न्यायाधिपः कर्मणाम्।

दानीयः खलु यस्य भक्तनिवहो देया च भक्तिः परा

दानं सात्त्विकमुत्तमं स भवतां भव्याय भूयाद्धरिः॥१॥

जो सम्पूर्ण ऐश्वर्य एवं विशुद्ध सत्त्वगुण से उज्ज्वल 'दयासागर' भगवान् न्यायपूर्ण प्रणाली से जीव के कर्मों के फल को देने एवं दिलाने में समर्थ और प्रसिद्ध हैं, जो निष्काम कर्मयोग से प्रसन्न होकर भक्तवृन्द को पराभक्ति प्रदान करते हैं, जिनका दान शुद्ध सात्त्विक है, वे श्रीहरि आपका कल्याण करें।

प्रस्तावना-

दाता जनश्च दानीयो देयं दानमिति क्रमात्।

पदार्थाः खलु चत्वारो ध्येया दानाख्यकर्मणि॥२॥

चतुरश्चतुरो ह्रीमान् धीमान् ध्यात्वा पदार्थकान्।

दुर्लभस्य विजानीयान्महत्त्वं दानकर्मणः॥३॥

शूरं सूरिं सुवक्तारमतिशेते हि गौरवात्।
दातेति दुर्लभः सोऽत्रेत्याहुर्नीतिविशारदाः॥४॥
कलौ बिभर्त्ति माहात्म्यं दानमेतद् विशेषतः।
तस्मात्तनोति तत्तत्त्वं कृष्णानन्दो यथामति॥५॥

दान के प्रसंग में दाता, दानीय (सम्प्रदान), देय एवं दानक्रिया- ये चार पदार्थ विचारणीय होते हैं। चतुर (विवेकी) बुद्धिमान् व्यक्ति इन चारों पदार्थों को अच्छी तरह विचार कर ही दुर्लभ दानकार्य के महत्त्व को समझ सकते हैं।

नीतिशास्त्रकारों ने कहा है कि लोक में सौ व्यक्तियों में एक शूर, हजार में एक विद्वान् एवं दस हजार में एक वक्ता होता है, किन्तु दाता इन सभी लोगों से दुर्लभ है, जिसका प्रतिशत बहुत कठिन है और लाखों में भी एक होता है या नहीं होता है, इसका निश्चय नहीं है-

शतेषु जायते शूरः सहस्रेषु च पण्डितः।
वक्ता दशसहस्रेषु दाता भवति वा न वा॥

कलियुग में धर्म का एकमात्र चरण- 'दान' बच जाता है- ऐसा शास्त्रकारों ने कहा है-
“दानमेकं कलौ युगे।”

इन बातों को विचार कर दान के प्रसंग में संक्षेप से मैं (कृष्णानन्द झा) अपनी बुद्धि के अनुसार विचार व्यक्त कर रहा हूँ।

व्युत्पत्ति-

धातोर्दाजो भावे विधिना ल्युट् चेत्यनेन सूत्रेण।
ल्युट्प्रत्यये सुसिद्धः सम्प्रति चिन्योऽत्र दानमिति शब्दः॥६॥

'डुदाज्' दाने (जुहोत्यादि) धातु से 'ल्युट् च' सूत्र के द्वारा भाव (स्वार्थ) में 'ल्युट्' प्रत्यय करने पर 'दान' शब्द सिद्ध होता है, जिसका अर्थ होता है अपने स्वत्व को समाप्त कर योग्य व्यक्ति को कोई वस्तु समर्पित करना।

दानपदार्थ-

देशे प्रशस्ते काले सत्पात्राय श्रद्धयादरात्।
निःस्वार्थं भगवत्प्रीत्यै वोपयुक्तस्य वस्तुनः॥७॥
स्वस्वत्वं यत्परित्यज्य दानीयस्वत्वसाधनम्।
दानं तद् वस्तुतो लोके परत्रापि सुखप्रदम्॥८॥

प्रशस्त देश एवं काल में सत्पात्र को श्रद्धा एवं आदर से ईश्वर की प्रीति के लिए अथवा निःस्वार्थ भावना से देय वस्तु में अपने-अपने स्वत्व को हटाकर दानीय व्यक्ति के स्वत्व को साधित करना 'दान' शब्द का अर्थ फलित होता है। ऐसा दान लोक एवं परलोक- दोनों में कल्याणकारक होता है। जैसे- श्रेष्ठ ब्राह्मण ही शास्त्र में ब्राह्मण शब्द का प्रवृत्त्यर्थ माना जाता है, उसी तरह यहाँ भी दान शब्द से प्रशस्त दान अर्थ ही लिया गया है।

दाता के भेद-

कश्चिद् ददाति स्वयमेव नान्यं सम्प्रेरयत्यत्र तु दानकार्ये।
यो दापयत्यत्र ददाति नैव नेताभिनेता च परोपकारी॥९॥
यस्तु द्विधापीह जनः समर्थो दत्ते स्वयं दापयति प्रभूतम्।
व्यस्तो धनाढ्यः स हि लोकनेता सदाभिमानो मधुरं न वक्ति॥१०॥

दाता स्वयं दापयति प्रभूतं विद्वान् महोश्च प्रियवागुदारः।

कश्चिद् भवत्यत्र जनः प्रभुर्वा रामादिरूपो भगवान् समर्थः॥११॥

इस संसार में दाताओं के भी अनेक रूप देखने में आते हैं। कोई व्यक्ति केवल देता है, दिलाता नहीं। दूसरा दिलाता है किन्तु देता नहीं, ऐसा व्यक्ति नेता, अभिनेता एवं परोपकारी होता है। तीसरा व्यक्ति जो स्वयं देता और दूसरों से दिलाता भी है, वैसा धनी-मानी व्यक्ति कुछ अभिमानी होता है और मधुर नहीं बोलता है। अर्थात् लेने वाले के प्रति इस तरह के दाता का आदरपूर्ण व्यवहार नहीं होता है। चौथा वह व्यक्ति होता है जो महान् उदार, विद्वान् होता है और देता भी है, दिलाता भी है, साथ में लेने वाले के प्रति आदरपूर्ण मधुर व्यवहार भी करता है। ऐसा व्यक्ति लोक में अत्यन्त दुर्लभ होता है अथवा श्रीराम, कृष्ण आदि अवतारी पुरुष ही होते हैं। इस भाव की अभिव्यक्ति इस प्रसिद्ध लौकिक प्रार्थना सूक्ति से भी होती है-

“दे दे राम, दिला दे राम, देने वाला सीताराम।”

भाव यह है कि- ‘हे राम! आप ही देते और दिलाते भी हैं, देते दिलाते समय आपके साथ अभिन्न आह्लादिनी शक्ति श्रीसीता होती हैं, जिससे प्रतिग्रहीता के साथ आप का व्यवहार भी अतिमधुर होता है।

सम्प्रदान (प्रतिग्रहीता)-

दाताभिप्रैति दानस्य कर्मणा यं स कथ्यते।

सम्प्रदानं च दानीय उद्देश्यो देयवस्तुनः॥१२॥

राजा ददाति विप्राय गामित्यादौ हि तादृशः।

सम्प्रदानं च विप्रादिरुद्देश्योऽपि स कीर्तितः॥१३॥

अनिराकरणात्सम्यक् प्रेरणादनुमोदनात्।

त्रैविध्यं सम्प्रदानस्य शास्त्रेषु प्रतिपादितम्॥१४॥

सूर्यायार्घ्यं ददातीति गां विप्राय ददाति च।

उपाध्यायाय गां दत्त इत्युदाहरणक्रमः॥१५॥

सुपात्रशिष्यः शरणागतश्च विद्वान् सुपूज्यश्च परोपकारी।

बुभुक्षितश्चानलसश्च निःस्वो दाने सदुद्देश्यतयोत्तमाः स्युः॥१६॥

शिष्याय विद्या शरणागतायाभीतिश्च दीनाय सते श्रमश्च।

वित्तं दरिद्राय बुभुक्षिताय भक्ष्यं प्रदत्तं बहुपुण्यदं स्यात्॥१७॥

शास्त्रकारों ने दान लेनेवाले के लिए सम्प्रदान, दानीय, उद्देश्य एवं प्रतिग्रहीता आदि शब्दों का प्रयोग किया है। इसको परिभाषित करते हुए महर्षि पाणिनि ने कहा है कि- ‘दाता अपने दान कर्म (वस्तु) के द्वारा जिसको प्रसन्न करता चाहता है, वह सम्प्रदान होता है। जैसे- ‘राजा विप्राय गां ददाति’- राजा श्रेष्ठ ब्राह्मण को गाय देता है। यहाँ पर ‘विप्र’ सम्प्रदान होता है। इसके तीन भेद कहे गए हैं-

1. जो माँगता नहीं है, किन्तु अस्वीकार भी नहीं करता है। जैसे- ‘सूर्याय अर्घ्यं ददाति’- सूर्य को अर्घ्य दे रहा है।
2. जो दान के लिए प्रेरित करता है, जैसे- ‘विप्राय गां ददाति।’ यहाँ विप्र राजा को धर्मशास्त्र की बातें समझा कर गोदान के लिए प्रेरित करता है।

3. अनुमोदन करनेवाला। यथा- 'उपाध्यायाय गां ददाति।' यहाँ उपाध्याय- योग्य अध्यापक राजा को गोदान के लिए प्रेरित नहीं करता है, किन्तु दान प्राप्त होने पर उसका अनुमोदन करता है। सुपात्र शिष्य, शरणागत व्यक्ति, परोपकारी, विद्वान्, पूज्य व्यक्ति, बुभुक्षित (भूखा) एवम् आलस्यरहित निर्धन- ये लोग वस्तुतः दान के पात्र होते हैं। योग्य शिष्य को श्रेष्ठ विद्या, शरणागत दीन व्यक्ति को अभय, श्रेष्ठ कार्य के लिए श्रम, गरीबों के लिए उचित धन एवं बुभुक्षित के लिए आवश्यक अन्न-वस्त्र समुचित दान कहा गया है।

देयपदार्थ-

विद्या परा भक्तियुतः परिश्रमोऽभीतिः सदनं च धनं नयार्जितम्।

सेवादरः साधुपरोपकारिता देयाः पदार्थाश्च सदोत्तमा मताः॥१८॥

श्रेष्ठ विद्या, श्रद्धापूर्ण परिश्रम, अभय, श्रेष्ठ अन्न, न्यायोपार्जित धन, सेवा, आदर, परोपकार- ये सब उत्तम दान-पदार्थ माने गए हैं।

दानभेद-

यच्छ्रद्धया स्वार्थमुपेक्ष्य लोके योग्याय पात्राय प्रशस्तदेशे।
कर्तव्यबुद्ध्या ह्यनुकूलकाले दीयेत तत्सात्त्विकदानमुक्तम्॥१९॥
यत्स्वार्थमालक्ष्य फलं च लौकिकमिच्छां विना वा निजकीर्तिकामतः।
दीयेत गर्वेण रजोगुणान्वितैस्तद् राजसं दानमुदाहृतं स्मृतौ॥२०॥
देशे निषिद्धे समये च तादृशोऽपात्राय चानादरपूर्वकं रुषा।
दीयेत यद्दुष्टधिया प्रमादतः तत्तामसं दानमुदीरितं बुधैः॥२१॥

श्रीमद्भगवद्गीता आदि ग्रन्थों में दान के मुख्यतया तीन भेद कहे गए हैं- पहला सात्त्विक दान वह कहलाता है जो श्रद्धापूर्वक, प्रत्युपकार को ध्यान में न रखकर, प्रशस्त देश एवं काल में कर्तव्य बुद्धि से सत्पात्र को दिया जाय। दूसरा राजस दान वह होता है जो प्रत्युपकार की भावना से अनिच्छया अथवा अपनी ख्याति के लिए अभिमानपूर्वक अनुपयुक्त पात्र को भी दिया जाय। तीसरा तामस दान वह है जो समुचित देश, काल एवं पात्र को ध्यान में न रखकर अनादरपूर्वक अहम्भाव से दिया जाय।

उपसंहार-

दामादरो दापयिता च दाता दानीयतां साधु बिभर्त्ति भक्तः।

देया च भक्तिः परमा रमायाः स्वामी स्वयं सात्त्विकदानकर्त्ता॥२२॥

वस्तुतः देने वाले, दिलाने वाले एकमात्र भगवान् परमेश्वर ही हैं, अन्य सभी निमित्तमात्र होते हैं। किसी भक्त ने इस बात को विचार कर कहा है-

“भिखारी सारी दुनिया, दाता एक रामा”

इसी तरह देय पदार्थ भी ईश्वर की परमभक्ति ही है, क्योंकि अन्य सभी वस्तु नश्वर होते हैं। प्रतिग्रहीता भी ईश्वर का परमभक्त ही होता है और ईश्वर के द्वारा उस भक्त का उचित समय में दिया जाने वाला भक्ति-दान ही सात्त्विक-दान होता है।

डा. कृष्णानन्द झा

‘श्रीकृष्णनिकेतनम्’, ग्राम- गंगौली,

पो.- राजे (सरिसबपाही)

जिला- मधुबनी (बिहार), पिन- 847424



कौमुदी-महोत्सव की परम्परा और पाटलिपुत्र

▣ डॉ. श्रीरंजन सूरिदेव

पाटलिपुत्र में कौमुदी-महोत्सव की परम्परा दीर्घकालीन है, जिसका प्रवर्तन सम्राट् चन्द्रगुप्त ने किया था और इस परम्परा का अनुपालन उसके यशस्वी पुत्र सम्राट् समुद्रगुप्त तक होता रहा। ऐतिहासिक अनुमान है कि कौमुदी-महोत्सव का शुभ दिवस ही समुद्रगुप्त का अभिषेक दिवस था। गुप्तकाल (ई० पूर्व प्रथम शती से छठी शती) के पाटलिपुत्र में प्रतिष्ठित स्वर्णयुग सम्पूर्ण भारत के लिए स्वर्णयुग था और कहना न होगा कि कौमुदी-महोत्सव इसी स्वर्णयुगीन पाटलिपुत्र का अनुपम सांस्कृतिक अवदान है।

सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वारा प्रवर्तित कौमुदी-महोत्सव के आदि स्रोत के सम्बन्ध में निश्चित कुछ कह सकना सर्वथा निरापद नहीं होगा। कौमुदी-महोत्सव, जिसे शारदोत्सव भी कहते हैं, आश्विन की शारदी पूर्णिमा को मनाया जाता है और भगवान् श्रीकृष्ण ने शारदी पूर्णिमा को ही

अपना प्रसिद्ध रास रचाया था। इस सन्दर्भ में श्रीमद्भागवत का श्लोक इस प्रकार है-

भगवानपि ता रात्रीः शारदोत्फुल्लमल्लिकाः।

वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे
योगमायामुपाश्रितः॥

(स्कन्ध 10.29.1)

इसी आधार पर तत्काल यह कहा जा सकता है कि वर्तमान कौमुदी-महोत्सव अतीत के रास का ही विकसित रूप है।

अन्य प्राचीन ग्रन्थों की अपेक्षा 'मुद्राराक्षस' नाटक में कुसुमपुर यानी पाटलिपुत्र में कौमुदी-महोत्सव मनाये जाने की विशद और प्रत्यक्ष चर्चा हुई है। 'मुद्राराक्षस' के प्रणेता महाकवि विशाखदत्त को ईसा की ग्यारहवीं-बारहवीं शती

आश्विन मास की पूर्णिमा तिथि (इस वर्ष दिनांक 22 अक्टूबर, 2010) पौराणिक विवरणों के अनुसार लक्ष्मी-पूजन का दिन है। मिथिला में इस 'कोजागरा' पर्व कहा गया है। इस दिन गृहस्थ अपने घर को अल्पनाओं और फूलों से सजाते हैं तथा लक्ष्मी की पूजा होती है। इसे रात्रि में जागरण का महत्त्व है। नव-विवाहित दम्पती को एक जगह बैठाकर उन्हें आशीर्वाद दिया जाता है। जनश्रुति है कि इस रात्रि चन्द्रमा की किरण से अमृत टपकता है इस लिए चाँदनी में बैठकर लोग खीर खाते हैं।

मगध की राजधानी पाटलिपुत्र में इस कौमुदी महोत्सव की परम्परा के इतिहास और स्वरूप का विवेचन कर रहे हैं-

डा. श्रीरंजन सूरिदेव।

का कवि माननेवालों में प्रो० विलसन अग्रणी हैं। प्रस्तुत नाटक के 'भरतवाक्य' (श्रीमद्बन्धुभृत्यश्चिरमवतु महीं पार्थिवश्चन्द्रगुप्तः) में 'चन्द्रगुप्त' पाठ देखकर प्रसिद्ध पुरातत्वज्ञ डॉ. काशी प्रसाद जायसवाल ने अपना मत स्थापित करते

हुए कहा है कि इस नाटक की रचना और अभिनय की योजना चन्द्रगुप्त के राज्यकाल में हुई थी।

ज्ञातव्य है, चन्द्रगुप्त नाम के तीन राजा हुए हैं। इनमें मौर्य उपाधिधारी चन्द्रगुप्त प्रथम आज से बाईस सौ वर्ष पहले हुआ था, इसलिए उसे इस नाटक का नायक माना जाना सम्भव नहीं और न इस बात की ही सम्भावना है कि इस नाटक का अभिनय उसी चन्द्रगुप्त की सभा में हुआ था। इस नाटक में म्लेच्छों की चर्चा होने के कारण, साहित्येतिहास के विद्वान् इसे उतना पुराना नाटक मानने के पक्ष में नहीं है।

चन्द्रगुप्त द्वितीय गुप्तवंशीय था और इसने ईसा-उत्तर चौथी शती में पाटलिपुत्र में राज्य किया था। इसका राज्य अतिविस्तृत नहीं था और इसकी सभा में विद्वत्समागम की भी बात सुनी जाती है। हाँ, इसका पोता पाँचवीं शती का चन्द्रगुप्त निश्चय ही सम्पूर्ण आर्यावर्त का शासक था, जिसकी चर्चा अनेक शिलालेखों में उत्कीर्ण है। यह विक्रमादित्य के नाम से भी प्रसिद्ध हुआ था। कहा जाता है कि विशाखदत्त इसी विक्रमादित्य की सभा के सभासद थे और इन्होंने इसी सभा में अपने 'मुद्राराक्षस' नाटक की रचना की थी। हूण, शक, खस आदि म्लेच्छों ने इसके पूर्व ही पंजाब में उपद्रव किया था, ऐसा इतिहासज्ञ कहते हैं। इस दृष्टि से 'मुद्राराक्षस' के 'भरतवाक्य' की **म्लेच्छैरुद्धीज्यमाना भुजयुगमधुना पीवरं राजमूर्तेः** यह उक्ति अधिक संगत प्रतीत होती है।

पण्डित प्रवर काशीनाथ त्र्यम्बक तैलंग ने तो ऐसे अनेक प्रमाण प्रस्तुत किये हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि महाकवि विशाखदत्त का समय ईसा की आठवीं शती के बाद तो कदापि सम्भव नहीं। कहीं-कहीं 'भरतवाक्य' में चन्द्रगुप्त की जगह 'अवन्तिवर्मा' पाठ देखा जाता है, जो पश्चिम मगध का राजा तथा कन्नौज-नरेश हर्षवर्द्धन के

आवुत्त (बहनोई) ग्रहवर्मा का पिता था। यहाँ यदि महाकवि विशाखदत्त को मगधदेशवासी मान लिया जाय, तो ये इसके सभासद हो सकते हैं और इस राजा अवन्तिवर्मा का समय यदि पाँचवीं शती मान लिया जाय, तो महाकवि विशाखदत्त की भी तत्कालीनता सम्भव है।

और एक बात प्रस्तुत नाटक में बुद्धदेव के साथ चन्दनदास की तुलना (अंक 7) तथा बौद्ध धर्मावलम्बी क्षपणक जीवसिद्धि के साथ राक्षस, चाणक्य आदि ब्राह्मणों के नैर्घृण्य को देखकर ऐसा अनुमान होता है कि इस नाटक की रचना तब हुई थी, जब बौद्ध आदि नास्तिकों के मतों का बहुत कुछ हास हो चुका था। बौद्धमत का हास-काल सातवीं शती के बाद तथा नवीं शती के पूर्व मानना ही अधिक सयुक्तिक प्रतीत होता है।

उपर्युक्त काल-विवेचन के बाद प्राप्त निर्णय से यह सहज ही कहा जा सकता है कि छठीं से नवीं शती में मगधराज्य सुश्रीकता और समृद्धि की दृष्टि से पांक्तेय था और उसकी प्रसिद्ध राजधानी पाटलिपुत्र फूलों का नगर माना जाता था। यहाँ के तत्कालीन शान्तिप्रेमी शासकों में साहित्य, संगीत, नृत्य आदि ललित कलाओं के माध्यम द्वारा अपनी संस्कृति और राष्ट्रीयता के पोषण और रक्षण की सहज तत्परता रहती थी। कौमुदी-महोत्सव भी संस्कृति प्रधान राष्ट्रीय पर्वों में अन्यतम था। इस महोत्सव से संकेतित होता है कि राजा और प्रजाओं की जीवन धारा संगीत और नृत्य- इन दो ललित कलाओं के कूलों से सदानेरा बनकर प्रवहमाण रहती थी। अस्तु;

'मुद्राराक्षस' में चन्द्रगुप्त ने अपने सुगांगप्रासाद के राजपुरुषों को आज्ञा दी है कि वह कौमुदी-महोत्सव से रमणीयतर कुसुमपुर को देखना चाहता है, इसलिए सुगांगप्रासाद की ऊपरवाली भूमि को उसके देखने योग्य सज्जाओं से अलंकृत किया जाय।' (अंक 3)

कौमुदी-महोत्सव सबसे ऊपर खुली छत पर मनाने की प्रथा इसीलिए थी कि वहाँ से पूर्ण शरच्चन्द्र के दर्शन-पूजन किये जा सकें। इससे ऐसा सूचित होता है कि कौमुदी-महोत्सव के दिन व्रत रखने की विधि प्रचलित थी और रात में चाँदनी से लहालोट गगनचुम्बी छतों पर, संगीत नृत्य-वाद्य के साथ चन्द्र पूजन किया जाता था। इसके अतिरिक्त इस महोत्सव के अवसर पर श्वेत वस्तुओं का व्यवहार भी अभीष्ट हुआ करता था।

कुछ वर्षों पूर्व हिन्दी के तपःपूत कथाकार पुण्यश्लोक श्रीरामवृक्ष बेनीपुरी ने, जब वह बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के प्रधानमन्त्री थे, सम्मेलन-भवन की ऊपरी छत पर कौमुदी-महोत्सव का बड़ा भव्य और अविस्मरणीय आयोजन किया था। उस अवसर पर उत्सवियों के बीच सुधा-धवल खीर का वितरण भी हुआ था। इसी क्रम में पटना सिटी के 'पाटलिपुत्र क्लब', 'बिहार हितैषी पुस्तकालय', 'रंगमंच' आदि साहित्यिक-सांस्कृतिक प्रतिष्ठानों द्वारा आयोजित होनेवाले कौमुदी-महोत्सव या शारदोत्सव पाटलिपुत्र की प्राचीन कौमुदी-महोत्सव की परम्परा को ही आगे बढ़ाने के ऐतिहासिक निदर्शन हैं।

सच पूछिए, तो कौमुदी-महोत्सव शरद-पूनी की चाँदनी के सांस्कृतिक स्वागत का पर्व है, ज्योत्स्ना की अतिशय सुकुमार धवलिमा के धारास्नान में आनन्द लेने का समय है। जब चाँद चाँदनी के ओठों से सागर की लोल लहरों का चुम्बन लेने लगता है, तब सागर की बाँहें अतिशय उत्ताल हो उठती हैं और मानव-मन कौमुदी की कोमलिमा पाकर उल्लास-चपल हो उठता है, उसका जीवन दुग्धोज्ज्वल हो जाता है और सारा संसार ही पयःपारावार की तरह प्रतीत होने लगता है। अस्तु;

'मुद्राराक्षस' में सुगांगप्रासाद की सजावट को चित्रित करते हुए कवि विशाखदत्त ने कहा है कि उक्त प्रासाद में धूपछड़ियाँ जलाई थी, स्तम्भों को धूपों की सुगन्धियों से मतवाली मालाएँ पिरोकर सजाया गया था। चाँदनी से चमचमाते वे स्तम्भ श्रीसम्पन्न चँवर की तरह लग रहे थे। सारे प्रासाद की भूमि पुष्प और चन्दन से मिश्रित जल से सिक्त कर दी गई थी।

शरद-पूर्णिमा को होनेवाले इस कौमुदी-महोत्सव का कवि-चित्रित प्राकृतिक परिवेश भी अत्यन्त अनुकूल और आकर्षक है-

बालुकामयी भूमि के समान स्वच्छ मेघखण्डवाली दिशाएँ स्वर में मिटास घोलनेवाले सारसों से सुहावनी हो रही हैं। रात में चमकते चाँद और सितारों से सुशोभित अतिविस्तृत दसों दिशाएँ ऐसी लगती हैं, जैसे आकाश से गंगा प्रवाहित हो रही है। वर्षा की उन्मार्गगामी जलधाराएँ शरद में अपनी राह पर आकर जैसे नियमित-संयमित हो गई हैं। खेतों में धान की बालियाँ रसभरे दानों के भार से झुक गई हैं। तीव्र विष की तरह शरद ने मयूरों की उन्मत्तता दूर कर दी है। जिस प्रकार चतुर दूती, प्रियतम के अनेक दोषों से क्रुद्ध मनोव्यथा से आहत कृशांगी मानिनी को बहुत यत्न से उस अपराधी पति के प्रति पुनः अनुकूल बना लेती है, उसी प्रकार शरद ऋतु वर्षा से मलिन अल्पजला नदियों को निर्मल नीरवाहिनी बनाकर समुद्र के पास पहुँचा देती है। ऐसे ही नैसर्गिक परिवेश में कुसुमपुर में कौमुदी-महोत्सव की घोषणा की जाती थी।

'मुद्राराक्षस' के तृतीय अंक से सूचना मिलती है कि कौमुदी-महोत्सव के अवसर पर पाटलिपुत्र के राजमार्ग चपलजघना गजगमिनी वार. वनिताओं से विभूषित रहते थे और सम्पत्तिशाली प्रधान पुरजन अपने घरों की सम्पत्तियों द्वारा

आपस में एक-दूसरे को जीतने की कामना करते हुए अपनी-अपनी स्त्रियों के साथ यह महोत्सव रचाते थे तथा शरदकाल को शिवरूप मानकर उसकी अभ्यर्थना करते थे।

कौमुदी-महोत्सव के दो पक्ष और भी हो सकते हैं- आध्यात्मिक और लौकिक। कौमुदी महोत्सव शृंगार प्रधान होता है, जिसका अधिष्ठाता कामदेव है। काम तो अनंग है, इसलिए उसकी प्रत्यक्ष पूजा तो नहीं हो सकती, इसीलिए उसके प्रतिनिधि रूप चन्द्र की पूजा की जाती है और पूजा में श्वेत सामग्री का उपयोग किया जाता है। चन्द्र की पूजा से काम प्रसन्न रहता है। शरत्काल चूँकि शिव का प्रतीक या प्रतिरूप माना गया है, इसलिए वह काम का शामक माना जाता है। यह शारदीय महोत्सव प्रकारान्तर से कर्पूरगौर करुणावतार शिव की पूजा की ओर ही संकेत करता है, जिससे प्राणी काम बाधा से अभिभूत न हों। तत्त्वतः इस महोत्सव का यही आध्यात्मिक पक्ष है।

लौकिक पक्ष में यह कहा जा सकता है कि इस शरद ऋतु में धान की नई फसल तैयार होती है और कृषकों-गृहस्थों के रिक्त घरों में शस्यश्री का पदार्पण होता है। कोई भी उत्सव तभी हृदय से मनाया जाता है, जब सर्वतोमुख सम्पन्नता और शान्ति हो। शरत्काल चूँकि शस्य-सम्पन्नता लेकर आता है, इसलिए पाटलिपुत्र के नागरिक उसके स्वागत में श्वेतपर्व या कौमुदी-महोत्सव सोत्साह मनाते हैं और इस अवसर पर प्रसन्नतापूर्वक खीर का वितरण करते हैं तथा अपने-अपने घरों को कुमुद पुष्पों से सजाते हैं।

परन्तु अब यह महोत्सव केवल पाटलिपुत्र में ही नहीं; अपितु पूरे बिहार राज्य में शारदोत्सव के नाम से मनाया जाता है। इस अवसर पर सामान्यतया नृत्य, गीत, वाद्य आदि के आयोजन के साथ रात्रि-जागरण करने और सफेद मखाने

की खीर खाने-खिलाने की विशिष्ट प्रथा है। इस महोत्सव का सम्बन्ध चन्द्रप्रिय कुमुद के पुष्पों से है, इसलिए इसे कौमुदी-महोत्सव कहते हैं- 'कुमुदस्य इयं कौमुदी, तस्याः महोत्सवः-कौमुदी महोत्सवः।'

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि 'मुद्राराक्षस' के अतिरिक्त अन्य जैन या ब्राह्मण-साहित्य में कौमुदी-महोत्सव का उल्लेख प्रायः नहीं मिलता। मुद्राराक्षस के समवर्ती साहित्य में भी इसका उल्लेख नहीं हुआ है। अलबत्ता उसमें वसन्त महोत्सव या मदन-महोत्सव का वर्णन अवश्य मिलता है। कालिदास के 'विक्रमोर्वशीय' नाटक में चन्द्रपूजा का वर्णन तो है, परन्तु उसे 'कौमुदी-महोत्सव', संज्ञा से अभिहित नहीं किया गया है। यह पूजा राजा की प्रधान महिषी देवी ने अपने आर्यपुत्र के प्रसादन तथा आर्यपुत्र के अन्य स्त्री से प्रेम होने पर भी उनके प्रति अनुकूल भाव बनाये रखने के संकल्प के रूप में की है। यह चन्द्र पूजन भी मणिजटित हर्म्य की छत पर की गई है, जैसी पूजा विधि का वर्णन मुद्राराक्षस के कौमुदी-महोत्सव में हुआ है। (द्र. अंक 3) इससे स्पष्ट है कि कालिदासकालीन महोत्सव या प्रियानुप्रसादन व्रत का परवर्ती विकास ही कौमुदी-महोत्सव है।

जैसा पहले कहा गया है, यह महोत्सव शारदीय चन्द्र से सम्बद्ध होने के कारण उत्तर कालीन प्रसिद्ध रास का रूपान्तर है, इसलिए शरत् पूर्णिमोत्सव के रूप में यह सारे भारत में विशेषकर मथुरा, वृन्दावन आदि धार्मिक क्षेत्रों के वैष्णव सम्प्रदाय में तथा साहित्यिक-सांस्कृतिक क्षेत्र के कला प्रेमी वर्ग में समारोह पूर्वक मनाया जाता है।

37, भा, बैंक ऑफिसर्स कॉलोनी,
काली-मन्दिर मार्ग, हनुमानगर, पटना।



वैदिक साहित्य में त्रयी-एक विश्लेषण

▣ प्रो० रामविलास चौधरी

भारतीय परम्परा में संख्या-गणना के क्रम में तीन या त्रयी (तीन का समूह) का बड़ा महत्त्व है। जैसे- तीन देव, तीन लोक, तीन देवियाँ, तीन योग, तीन दोष तथा तीन गुण आदि। ऐसा केवल लोक या लौकिक साहित्य में ही नहीं है, अपितु, वैदिक साहित्य में भी देखा जाता है। सर्वप्रथम वेद को ही 'त्रयी' कहते हैं। इसके बाद कुछ और ऐसे शब्द और सन्दर्भ वहाँ हैं, जिनका विवरण यहाँ प्रस्तुत है-
त्रयी या वेदत्रयी-

संस्कृत में 'विद् ज्ञाने' धातु से निष्पन्न 'वेद' शब्द का अर्थ है ज्ञान। वेद से हमें पुरातन काल की सामाजिक, शैक्षिक, सांस्कृतिक, धार्मिक और आध्यात्मिक स्थितियों का ज्ञान प्राप्त होता है। वेद को 'त्रयी' कहते हैं। इससे वेदों की संख्या तीन (ऋक्, यजुः तथा साम) है, ऐसा समझा जाता है। ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त में इन तीन वेदों का उल्लेख है-
“तस्माद् यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुः तस्मादजायत॥”

अर्थात्- जिसमें सभी कुछ हवन कर दिया जाय, ऐसे उस यज्ञ से ऋग्वेद, सामवेद, गायत्री आदि छन्द और यजुर्वेद उत्पन्न हुए। वेद का प्रधान लक्ष्य यज्ञ का सम्पादन है- 'अग्निहोत्रकला

वेदाः। यज्ञ सम्पादन के समय वैदिक देवताओं की स्तुति में पढ़े गये मन्त्र ऋक्' कहे जाते हैं। ऋग्वेद पूरा पद्यात्मक है। देवताओं के यजन-पूजन में प्रयुक्त मन्त्र 'यजुष्' कहे जाते हैं। ये अधिकांश मन्त्र गद्यात्मक है। यज्ञ में अभीष्ट देवताओं को प्रसन्न करने के लिये मन्त्रों का गायन किया जाता था। स्वर एवं ताल-लय से युक्त होने के कारण ये मन्त्र गीत्यात्मक होने से 'साम' कहे गये हैं। इन तीनों वेदों की उत्पत्ति के बारे में शतपथ ब्राह्मण में

सामान्यतः तीन संख्या का नाम सुनते ही लोग उसे अशुभ मानने लगते हैं, किन्तु भारतीय वैदिक परम्परा की दृष्टि से तीन अंक का बड़ा महत्त्व है। निरुक्तकार यास्क का कथन है कि देवता तीन हैं- तिस्रः एव देवताः इति नैरुक्ताः। पुराणों में भी तीन देव ब्रह्मा, विष्णु एवं महादेव हैं। इसके अतिरिक्त तीन कुश का समूह सभी कर्मों में परम पवित्र माना जाता है। इसी प्रकार यहाँ वैदिक परम्परा के सन्दर्भ में आठ प्रकास से तीन संख्या के महत्त्व का विवेचन कर रहे हैं पटना विश्वविद्यालय के स्नातकोत्तर विभागाध्यक्ष- प्रो. रामविलास चौधरी।
-सं.

विस्तार से वर्णन है। वहाँ बताया गया है कि अग्नि, वायु और सूर्य ने कठिन तपस्या की और उन तीनों से क्रमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद उत्पन्न हुए।² यज्ञों के सम्पादन में इन्हीं तीन वेदों

की मुख्य भूमिका होती थी। अथर्ववेद में मारण मोहन और उच्चाटन सम्बन्धी तथा जनसामान्य के लिए कर्मकाण्ड सम्बन्धी मन्त्र हैं। इनका उपयोग यज्ञ में आनेवाली विघ्न-बाधाओं के शमन के लिये किया जाता था, अन्यथा इनका कोई उपयोग नहीं होता था। यों भी मारण-मोहन आदि अभिचार क्रिया कहे जाते हैं जिनमें सभ्य लोगों की रुचि नहीं होती और वे उन क्रियाओं को अच्छी नजर से नहीं देखते। अतः उस समय आरम्भ में समाज में प्रतिष्ठा नहीं पाने के कारण इनकी गणना वेदों के अन्तर्गत नहीं की गई। कालान्तर में अथर्ववेद को लेकर वेदों की संख्या चार हो गई³।

वेद को 'त्रयी' कहे जाने में दूसरा मत है कि ये वेद पद्यात्मक, गद्यात्मक और गीत्यात्मक होने के कारण ही 'त्रयी' कहे जाते हैं।

(2) वैदिक साहित्य के तीन भाग हैं- ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्।

ब्राह्मण- 'ब्रह्म' से सम्बद्ध होने के कारण इन ग्रन्थों को ब्राह्मण कहा गया। 'ब्रह्म' शब्द का अर्थ है- मन्त्र⁴। इसका दूसरा अर्थ है- यज्ञ⁵। 'ब्राह्मण' शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हुए भट्ट भास्कर ने लिखा है कि कर्मकाण्ड और उससे सम्बद्ध मन्त्रों के व्याख्यानपरक ग्रन्थ ब्राह्मण कहे जाते हैं- 'ब्राह्मणं नाम कर्मणस्तन्मन्त्राणां च व्याख्यान-ग्रन्थः'⁶।

ब्राह्मण ग्रन्थों में मन्त्रों का विनियोग (मन्त्रों के देवता, ऋषि तथा प्रयोग-विधि) बताया गया है। सभी वेदों से सम्बद्ध अलग-अलग ब्राह्मण हैं। उन ब्राह्मण ग्रन्थों में सबसे अधिक महत्त्व शतपथ ब्राह्मण का है क्योंकि यज्ञ की दृष्टि से मुख्य स्थान यजुर्वेद का है और इसी वेद से सम्बद्ध है- शतपथ ब्राह्मण। गाँव-नगर में रहनेवाले लोग यज्ञों का सम्पादन कर ऐहिक (लौकिक) और आमुष्मिक (पारलौकिक) फल प्राप्त करते थे। ब्राह्मण साहित्य की उपासना को 'काम्य' कहते हैं।

आरण्यक- गाँव-नगर से दूर एकान्त अरण्य (वन) में निवास करनेवाले वानप्रस्थ लोग जिन आध्यात्मिक यज्ञों का सम्पादन करते थे, उन्हें प्रतिपादित करनेवाले ग्रन्थ आरण्यक कहे गये। तैत्तिरीय आरण्यक भाष्य में सायणाचार्य कहते हैं कि अरण्य में अध्ययन किये जाने के कारण इनका आरण्यक नामकरण अन्वर्थक है⁷। इनमें यज्ञों के आध्यात्मिक और तात्त्विक चिन्तन किये गये हैं। आरण्यक साहित्य उपासना कहा जाता है।

उपनिषद्- उप+नि उपसर्ग पूर्वक सद् धातु से 'क्विप्' प्रत्यय करने पर उपनिषद् शब्द निष्पन्न होता है। 'सद्' धातु के तीन अर्थ हैं- विशरण = विनाश होना, गति= पाना, अवसादन= शिथिल होना (षद् लृ विशरणगत्यवसादनेषु⁸) इस प्रकार जो विद्या सांसारिक मोहमाया को वि नष्ट कर देती है, ब्रह्म की प्राप्ति कराती है और जन्म-मरण के बन्धन को शिथिल कर देती है, उसे उपनिषद् कहते हैं। आचार्य शंकर के अनुसार 'उपनिषद्' शब्द का मुख्य अर्थ ब्रह्मविद्या है और गौण अर्थ में यह शब्द ब्रह्मविद्या के प्रतिपादक ग्रन्थ विशेष का भी बोधक है⁹। इसे ज्ञानकाण्ड कहते हैं।

(3) श्वेताश्वतर-उपनिषद् में प्रकृति को अजा के रूप में कल्पित किया गया है। उस अजा के तीन वर्ण बताये गये हैं- लोहित (लाल), शुक्ल (उजला) और कृष्ण (काला)¹⁰। प्रकृति त्रिगुणात्मिक है। तीन गुणों की साम्यावस्था को प्रकृति कहते हैं¹¹। ये तीन गुण हैं- सत्त्व, रजस् और तमस्। इन तीन गुणों के वर्ण क्रमशः हैं- शुक्ल, रक्त और कृष्ण। सत्त्वगुण शुद्धता या स्वच्छता का प्रतीक है। सत्त्व से सुख उत्पन्न होता है। सुख के अन्तर्गत सरलता, प्रीति, श्रद्धा सन्तोष, विवेक, दया आदि सुखद भाव आ जाते हैं। अतः इसे शुक्ल कहते हैं। अशुद्धि (धूलिधूसरता)

का प्रतीक है। यह सक्रिय तथा चल होता है। यह दुःख उत्पन्न करता है। दुःख के अन्तर्गत मान, मद, दूषण, क्रोध, मत्सर आदि दुःखद भाव आ जाते हैं इसका वर्ण लाल है। तमोगुण अन्धकार या अज्ञान का प्रतीक है। इससे मोह उत्पन्न होता है। मोह के अन्तर्गत प्रमाद, आलस्य, अज्ञान, विषाद आदि आते हैं। इनका वर्ण काला है तीनों गुण सदा सम्मिलित रहते एवं एक दूसरे से अलग नहीं किये जा सकते। किसी वस्तु या व्यक्ति को सात्त्विक, राजस और तामस उसमें निहित उस गुण के आधिक्य के कारण कहा जाता है।

(4) आत्मदर्शन के तीन साधन या कारण बताये गये हैं- श्रवण, मनन और निदिध्यासन। वहाँ निदेश दिया गया है कि उस ब्रह्म के बारे में गुरु मुख द्वारा जिज्ञासु को वेद-वाक्यों का श्रवण करना चाहिये। उन- वेद वाक्यों का- तर्क युक्ति द्वारा मनन किया जाना अपेक्षित है तथा मनन करके उस आत्मतत्त्व का ध्यान करना चाहिये। इस प्रकार से उस आत्मतत्त्व या ब्रह्म का साक्षात्कार किया जा सकता है। कहा भी है-

श्रोतव्यं श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः।

मत्वा च सततं ध्येयमेते दर्शनहेतवः॥

सामान्यतः शिक्षण अथवा ज्ञान प्राप्ति का प्रथम साधन श्रोत्र (कान) है। छात्र या जिज्ञासु गुरु-मुख से पहले उपयोगी बातों को सुनता है फिर बाद में उन बातों को पढ़ने या लिखने अथवा चिन्तन-मनन की प्रक्रिया आरम्भ होती है। कहा जाता है कि जो जितना अच्छा श्रोता होगा वही अच्छा वक्ता या चिन्तक हो सकता है। अतः साधकों को गुरु-मुख से वेद वाक्यों के रहस्य को सुनने का निर्देश दिया गया है। गहरे अथवा रहस्य के तत्त्वों को मेधावी व्यक्ति उसी रूप में ग्रहण नहीं करता, अपितु तर्कों और युक्तियों से उसकी संगति बैठाता है तथा उसका मनन-चिन्तन करता

है। आत्म-दर्शन की प्रक्रिया यहीं पूरी नहीं होती, अपितु निरन्तर उसके ध्यान की आवश्यकता होती है तभी जीव का उस ब्रह्म से एकाकार होता है तथा साधक को 'अहं ब्रह्मास्मि' का ज्ञान हो जाता है।

(5) प्राणोपासना के तीन मन्त्र- उपनिषद् ग्रन्थों में प्राण की उपासना के लिए तीन मन्त्रों के जप का विधान किया गया है-

(क) असतो मा सद् गमय¹²- साधक असत् (अनित्य) से सत् (नित्य) की ओर ले जाने की प्रार्थना अपने आराध्य से करता है। गीता में कहा गया है कि असत् की कभी (सत्ता) नहीं होती तथा सत् का कभी अभाव (नाश) नहीं होता¹³। एक अवस्था से दूसरी अवस्था में बदलने वाले को असत् कहते हैं तथा सतत एक रूप में रहनेवाले को सत् कहते हैं। शरीर जड़ पदार्थ है वह परिवर्तनशील होने से सत् नहीं हो सकता और आत्मा सदा एक रूप में रहती है। उसका कोई वि परिणाम या परिवर्तन नहीं होता। आत्मा सत् है। अतः साधक सत् (आत्मतत्त्व) की ओर ले जाने की प्रार्थना करता है।

(ख) तमसो मा ज्योतिर्गमय¹⁴- यहाँ तमस् (अन्धकार) अज्ञान का प्रतीक है तथा ज्योति प्रकाश या ज्ञान का। हर प्राणी प्रकाश की आराधना करता है ताकि वह अन्धकार रूप अज्ञान से मुक्त हो सके। ज्ञान के विना मुक्ति नहीं हो सकती¹⁵। अतः अन्धकार से प्रकाश की ओर ले जाने की प्रार्थना यहाँ की गयी है।

(ग) मृत्योर्मा अमृतं गमय¹⁶ - सामान्यतः कोई प्राणी मरना नहीं चाहता। वह अमर होने की अभिलाषा करता है। एक कवि का मत है कि जीवित व्यक्ति सैकड़ों कल्याणी को देखता है¹⁷। मरने के बाद उसे फिर जन्म-ग्रहण करना पड़ता है¹⁸ जिसमें अपार कष्ट भोगना पड़ता है। अतः साधक मृत्यु से अमृतत्व की ओर ले जाये जाने की प्रार्थना करता है।

शिक्षण संस्थाओं में उपर्युक्त तीनों उपनिषद् वचन आदर्श वाक्य (Molto) के रूप में बहु प्रचलित हैं। केन्द्रीय माध्यमिक शिक्षा बोर्ड का आदर्श वाक्य है-

‘असतो मा सद्गमय।’

(6) उपनिषद् दर्शन में ब्रह्म का आत्मा से एकत्व तीन रूपों में बताया गया है। उपनिषद् का अर्थ ब्रह्मविद्या अथवा अध्यात्म विद्या है। यह विद्या गुरु द्वारा अधिकारी शिष्य को एकान्त में दी जाती थी। अतः यह रहस्य विद्या या गुह्य विद्या भी कही गई है। उपनिषदों में आत्म-तत्त्व का विवेचन प्रमुख रूप में उपलब्ध है। माण्डूक्य उपनिषद् में आत्मा को तुरीय या शुद्ध चैतन्य कहा गया है। छान्दोग्य उपनिषद् में आत्मा को अखण्ड और आनन्दरूप कहा गया है। कठोपनिषद् में आत्मा का ही विवेचन किया गया है, जो ब्रह्म के रूप में प्रतिपादित है। दोनों में एकत्व बताते हुए बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा गया है।

यहाँ आथर्वण

(क) तदेतद् ब्रह्मापूर्वम् धनपरम् अनन्तरम् अब्राह्मम् अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूरित्यनुशासनम्¹⁹।

माण्डूक्योपनिषद् में कहते हैं-

सर्वं तद् ब्रह्मात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात्²⁰।

(ख) महर्षि आरुणि अपने पुत्र श्वेतकेतु को आत्म-तत्त्व के बारे में समझाते हुए कहते हैं कि वह जो यह अणिमा है एतद्रूप ही यह सब है। वह सत्य है, वह आत्मा है और हे श्वेतकेतो! वही तू है-

स य एषोऽणिमैतद् आत्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति²¹।

(ग) आराधक जब श्रवण, मनन और निदिध्यासन के द्वारा उस ब्रह्म का साक्षात्कार कर

लेते हैं तब वह अपने को उसी अवस्था में पा कर कहते हैं-

अहं ब्रह्मास्मि

(7) उच्च आदर्श के लिये तीन अनुशासन तैत्तिरीयोपनिषद् में दिये गये हैं जो मानव जीवन को उच्च शिखर पर पहुँचाते हैं। वेदाध्ययन कराने के अनन्तर आचार्य शिष्य को तीन²² उपदेश देते हैं-

(क) सत्यं वद (सत्य बोलो)- सत्य बोलने वाले व्यक्ति पर पूरा भरोसा किया जाता है। वह अपने वचन पर अटल रहने के लिये संकल्पित होता है। वह अपने कर्म (कर्तव्य) के प्रति ईमानदार बनता है। सच्चाई और ईमानदारी को सर्वोत्तम नीति कहा गया है। (Truth and honesty is the best Policy) सत्यवादी हरिश्चन्द्र की कथा युग-युगों से अमर है।

(ख) धर्मं चर (धर्म का आचरण करो)- धर्म के अनेक लक्षण दिये गये हैं जिनमें एक लक्षण यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है-

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।

धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।²³

अर्थात् धैर्य (संकट के समय विशेष रूप में), क्षमा (अनुचित आचरण के लिये), दम (अनन्त इच्छाओं का दमन), अस्तेय (चोरी नहीं करना), शौच (पवित्रता), इन्द्रिय निग्रह (इन्द्रिय को वश में रखना), बुद्धि, विद्या (अध्ययन), सत्य और अक्रोध (क्रोध नहीं करना)।

इनमें से कुछ को भी पूरी निष्ठा से पालन करनेवाला व्यक्ति निश्चय ही महान् होता है। इनके आचरण से मनुष्य स्वयं सुखी रहता है तथा उसमें आत्मविश्वास और निर्भय रहने का भाव जगता है। इतना ही नहीं इनमें दूसरों को भी सुख और सद्भाव मिलता है। अध्ययन तो कलियुग में साक्षात् सुख का साधन है। इन पंक्तियों के लेखक का अनुभव और दृढ़ विश्वास है कि जो व्यक्ति

पूरी निष्ठा और परिश्रम से अध्ययन करेगा उसे निश्चय ही उच्च पद प्राप्त होगा।

(ग) **स्वाध्यायान्मा प्रमदः** (निजी अध्ययन की अवहेलना (लापरवाही) मत करो)। प्रथम आश्रम अर्थात् जीवन की आरम्भिक उम्र में शिक्षा-प्राप्ति (अध्ययन) नितान्त आवश्यक है। अशिक्षा को मानव-जीवन का सबसे बड़ा अभिशाप कहा गया है। ऐसी माता को वैरी और पिता को शत्रु बताया गया है जो बच्चे को पढ़ाते नहीं है²⁴। किन्तु जीवन-पर्यन्त अपने अध्ययन में लगे रहने वाले व्यक्ति महान् होते हैं। एक अवस्था (बुढापा) आने पर समय बिताना भी सामान्य जनों के लिये समस्या बन जाती है, परन्तु अध्ययनशील व्यक्ति का समय बड़े आनन्द और आसानी से बीत जाता है। अतः कहा भी है- बुद्धिमानों या अध्ययनशील व्यक्तियों का समय काव्य-शास्त्र के विनोद (अध्ययन या लेखन) से सुखपूर्वक बीत जाता है²⁵।

आजकल भी विश्वविद्यालयों में दीक्षान्त समारोह के समय कुलपति उपर्युक्त तीन उपदेश स्नातकों को देते हैं।

(8) मानव जीवन में उच्च नैतिक उन्नति की तीन²⁶ शिक्षा उपनिषद् ग्रन्थ में दी गई हैं।

(क) **उत्तिष्ठत-** उठो, आचार्य शिष्यों को आत्मज्ञान में पारंगत करने के लिये प्रेरित करते हैं। उसके लिये उठने या तत्पर होने को कहते हैं। ऐतरेय ब्राह्मण में रोहित को भ्रमणशील रहने का उपदेश देते हुए इन्द्र कहते हैं-

**कलिः शयानो भवति संहिजानस्तु द्वापरः।
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं संपद्यते चरन्॥
चरैवेति॥**²⁷

यहाँ जन्म जन्तुओं से सम्बद्ध चार अवस्थाएँ कही गई हैं तथा युगों से उनका एकत्व बताया

गया है। सोना, जंभाई लेना, उठना ओर चलना- इन क्रियाओं को क्रमशः कलियुग, द्वापर, त्रेता और सत्ययुग कहा गया है। तात्पर्य है कि कलियुग में अज्ञान की मात्रा अधिक रहती है। इसमें धर्म या सत्कर्म की मात्रा एक चौथाई (एक पाद) रहती है। द्वापर में धर्म की मात्रा कुछ अधिक या दो पाद होता है। इसमें नींद से जगने किन्तु पूर्ण क्रियाशील नहीं होने की स्थिति रहती है। अतः इसे संजिहान (जंभाई) की अवस्था कहा गया है। त्रेता में धर्म के तीन चरण की स्थिति बतायी गयी है। इसे उठना कहा गया है। इसमें आगे बढ़ने की तत्परता रहती है। सत्ययुग में धर्म की पूर्णता मानी जाती है। चारो तरफ धार्मिक वातावरण होता है। इसे विचरण कहा गया है क्योंकि इसमें क्रियाशीलता पूरी तरह से विद्यमान रहती है। गमन या भ्रमण के अनेक लाभ गिनाते हुए कहते हैं-

**चरन् वै मधु विन्दति चरन् स्वादुमुदुम्बरम्।
पश्य सूर्यस्य श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरन्॥
चरैवेति॥**²⁸

अर्थात् भ्रमणशील व्यक्ति निश्चय ही मधु या कार्य में सफलता का फल प्राप्त करता है। भ्रमणशील व्यक्ति स्वादिष्ट गूलर (जो स्वस्थ रहने का प्रतीक है) का भोग करता है। सभी ग्रहों में सूर्य को श्रेष्ठ इसलिये माना जाता है, क्योंकि वह हमेशा गमनशील रहता है।

(ख) **जाग्रत-** (जागते रहो)। जागता हुआ व्यक्ति अपने कर्तव्य के प्रति चिन्तनशील या सावधान रहता है। ऐसा व्यक्ति ही अपने लक्ष्य की प्राप्ति में सफल होता है।

(ग) **प्राप्य वरान्निबोधत** (श्रेष्ठ पुरुषों के पास जाकर ज्ञान प्राप्त करो)। गुरु के विना ज्ञान नहीं होता। ज्ञानी व्यक्ति श्रेष्ठ होता है। अतः गुरु के पास जाकर ज्ञान-प्राप्ति का निर्देश यहाँ दिया गया है।

पाद-टिप्पणी-

1. ऋग्वेद- 10/90/9
2. तेभ्यः तप्तेभ्यः त्रयो वेदा अजायन्त। अग्नेः ऋग्वेदः वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात् सामवेदः। शतपथब्राह्मण।
3. “ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः।” मुण्डकोपनिषद् 11115
4. ‘ब्रह्म वै मन्त्रः।’ शतपथब्राह्मण 11116
5. ‘ब्रह्म वै यज्ञः।’ शतपथब्राह्मण
6. तैत्तिरीय संहिता। 11511 भाष्य
7. अरण्याध्ययनादेतद् आरण्यकमितीर्यते। अरण्य तदधीयीतत्येवं वाक्यं प्रचक्षते॥
तै.आ.भाष्य 6
8. सिद्धान्तकौमुदी, धातुपाठ संख्या 854
9. तस्माद् विद्यायां मुख्यया वृत्त्या उपनिषद् शब्दो वर्तते ग्रन्थे तु भक्त्या।
10. अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः। अजोऽहोको जुषमाणोऽनुशते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥
11. गुणानां साम्यावस्था प्रकृतिः।
12. बृहदारण्यकोपनिषद् 1-3-28
13. नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः। गीता- 2-16
14. बृहदारण्यकोपनिषद् 1-3-28
15. ऋते ज्ञानान् मुक्तिः
16. बृहदा. 1-3-28
17. जीवन्नरो भद्रशतानि पश्येत।
18. जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च। गीता 2/26
19. बृहदा. 2/5/18
20. माण्डू. 1/2
21. छान्दोग्य 6-8-4
22. सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। तैत्तिरीयोपनिषद् 1/11/1
23. मनुस्मृति 6/82
24. माता शत्रुः पिता वैरी येन बालो न पाठितः। न शोभते सभामध्ये हंसमध्ये वको यथा। हितोपदेश मित्रलाभ
25. काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम्॥ हितोपदेशः
26. उत्तिष्ठत, जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत। कठ. 1/3/14
27. ऐ. ब्रा. 1/33
28. ऐ. ब्रा. 1/35



जीवन का दर्शन : आरसी एवं टेनिसन की दृष्टि में

▣ प्रो० अशोक कुमार 'अंशुमाली'

यद्यपि उपर्युक्त शीर्षक की सिद्धि के लिए समकालीन मैथ्यू ऑर्नल्ड एवं रॉबर्ट ब्राउनिंग मैंने न हीं लॉर्ड टेनिसन अथवा न हीं आरसी प्रसाद सिंह की समग्र काव्य-यात्रा को आधार बनाने की कोशिश की है; न हीं इनके रूप में भिन्न भाषा और भिन्न सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के दो कवियों की काव्यकृतियों पर स्वतन्त्र विचार करने का दुःसाहस किया है। मेरी विचार-प्रेरणा का आधार केवल दो भिन्न देशीय कवियों की जीवनमूलक अवधारणा का वर्तमान वैश्विक परिवेश में अन्तर्राष्ट्रीय साहित्यिक स्तर पर एक संक्षिप्त अन्वय-आकलन का विनम्र प्रयास है।

यह साहित्य के सामान्य पाठकों को भी विदित है कि लॉर्ड टेनिसन विक्टोरिया-कालीन कवियों के उन नीतिपरक सिद्धान्तों तथा शैक्षणिक रूढ़ियों से इतर सांगीतिक एवं करुणामयी कल्पना के आग्रही हैं। जहाँ उनके

[हिन्दी साहित्याकाश में बिहार प्रदेश के नक्षत्रों में से अन्यतम मैथिली तथा हिन्दी के प्रख्यात कवि आरसी बाबू की कविता 'जीवन का झरना' पाठ्यपुस्तक में सम्मिलित होने के कारण सबसे अधिक लोकप्रिय हुआ। आरसी बाबू का जन्म समस्तीपुर जिला के एरौत नामक ग्राम में 19 अगस्त 1911 ई. में हुआ तथा निधन नवम्बर 1996 में हुआ। आरसी बाबू के जन्म के 100 वर्ष पूरे होने के उपलक्ष्य में संस्कृत एवं अंग्रेजी के विद्वान्, प्राध्यापक डा. अंशुमाली के द्वारा कविवर के प्रति प्रस्तुत श्रद्धाञ्जलि यहाँ प्रस्तुत है।- सं.]

उठारहवीं शताब्दी के नव्यशास्त्रवादी रचनाकारों से किञ्चित् प्रभावित प्रतीत होते हैं। वहीं, टेनिसन महोदय अपनी समृद्ध कल्पनाशक्ति, सांगीतिक ध्वनि-सौन्दर्य तथा करुणा-पूर्ण आवेगों के कारण रोमाण्टिक भावधारा के समीप नजर आते हैं; यदि अन्तर है तो सिर्फ इतना ही कि रोमाण्टिक भावधारा के कविगण छन्दमोह की दृष्टि से टेनिसन की तुलना में अपेक्षाकृत अधिक उन्मुक्त हैं जबकि उनलोगों की तुलना में टेनिसन काव्य-छन्द का पूरा निर्वाह करते हैं।

आरसी प्रसाद सिंह की काव्य-यात्रा की पृष्ठभूमि का अवलोकन करने से यह तथ्य उद्भासित होता है कि हिन्दी छायावाद के गर्भ से पैदा होनेवाले कवियों का समूह जहाँ जीवन के कठोर एवं संघर्षपूर्ण भावों के संवाहक हैं; वहीं आरसी प्रसाद सिंह उनसे थोड़ा भिन्न वैदभीरीति

सम्पन्न सांगीतिक चमत्कार एवं अवसादपूर्ण मानवीय संवेगों के सनातन शिल्पी होने का दावा करते हैं—
अमर चेतना का कलाकार शिल्पी
पराधीन होना नहीं चाहता है।

आरसी प्रसाद सिंह

आरसी बाबू का चेतना-विषयक-विमर्श और उनकी कलाविषयक अवधारणा नियति-कृत-नियम-रहित, निखिल-तन्त्र-विमुक्त एवं सर्व-तन्त्र-स्वतन्त्र सत्ता का आभास कराती है, जो जयशंकर प्रसाद की निम्न पंक्तियों की अनुगूँज है—

अनुपम वरदान चेतना का
सौन्दर्य जिसे सब कहते हैं,
जिसमें अनन्त अभिलाषा के
सपने सब जगते रहते हैं।

स्वप्न, कामायनी

आरसी बाबू एवं लॉर्ड टेनिसन दोनों ने ही जीवन को व्याख्यायित करने के लिए 'झरना' एवं 'द ब्रुक' जैसे समानार्थी बिम्बों का चयन किया है जो तुलनात्मक काव्यास्वाद की रुचितुष्टि के लिए पाठक को सहज ही प्रेरित करता है। अब जरा दोनों की कविताओं में जीवन-विषयक तथा तत्संबद्ध अन्य बिम्बों पर विमर्श एक ही साथ पाठकीय उत्सुकता तथा काव्यजात आह्लाद का कारक प्रमाणित होगा। देखें,

यह जीवन क्या है? निर्झर है
मस्ती ही इसका पानी है।
सुख-दुःख के दोनों तीरों से,
चल रहा राह मनमानी है।

प्रश्नोत्तर पद्धति से कविता जन्म लेती है और सद्यः शाश्वत जीवन-दर्शन पर जा टिकती है। निर्झर और जीवन के सातत्य में कोई संशय नहीं है, जल और जीवन न केवल शाब्दिक पर्याय हैं, बल्कि यहाँ उनकी भावमूलक समानता भी स्वयं सिद्ध है। सुख और दुःख के भिन्न तटों से

बँधा संघर्षरत जीवन पद्मपत्र की भाँति प्रकृति के उन्मुक्त प्रांगण में हिलोरें ले रहा है— कहीं प्राणदायिनी 'मस्ती' का (जीवन) झरना 'पानी' के अभाव में (कहीं 'मस्ती' की प्राणदायिनी 'पानी' के अभाव में जीवन का झरना) मुरझा न जाय; इसके लिए कवि सतर्क है।

चूँकि जीवन की दुःखात्मक प्रतिकूलताएँ जीवन-रस को सोख न लें— अतः नीर-नीरज की तरह मस्ती और यौवन का अक्षुण्ण, किन्तु न्यारा जलस्रोत सतत प्रवाहित होता रहे— यही कवि का अभीष्ट है। निर्झर के व्याज से प्रकृति का जैसा वस्तुपरक मानवीकरण आरसी प्रसाद सिंह ने उक्त कविता में प्रस्तुत किया है वह सहसा हमें 'द ब्रुक' की निम्न पंक्तियों को उद्धृत करने के लिए विवश करता है,

*I chatter over stony ways,
In little sharps and trebles,
I bubble into eddying bays
I babble on the pebbles.*

अन्तर सिर्फ इतना ही है कि आरसी बाबू रचित 'जीवन का झरना' जहाँ वस्तुपरक रचना है वहीं टेनिसन महोदय रचित 'द ब्रुक' आत्मपरक मानवीकरण है जिसमें कविता अपने उत्स से लेकर अवसान तक झरने की आत्मकथा प्रस्तुत करती है। उपर्युक्त पद्यांश में stony ways, little sharps, trebles, eddying bays, pebbles इत्यादि शब्द न केवल झरना के बहाव-बाधा के बोधक हैं, वरन् जीवन-यात्रा के दुःखात्मक अवरोधक भी हैं। आरसी बाबू ने इस भाव-चित्र को अनेक पंक्तियों में बखूबी उकेरा है—

बाधा के रोड़ों से लड़ता,
वन के पेड़ों से टकराता।
बढ़ता चट्टानों पर चढ़ता,
चलता यौवन से मदमाता।

कविता का अभिधेयार्थ तो झरना की

आत्मकथा-सा प्रतीत होता है; क्योंकि टेनिसन ने अपनी कविता में 'बुक' का ऐसा संश्लिष्ट रूपक बाँधा है जिसके निहितार्थ अथवा अभिव्यक्त अर्थ की गहराई में पाठक तबतक नहीं पहुँच पाता जबतक मानव-जीवन की क्षणभंगुरता तथा झरने की शाश्वतता का स्पष्ट अन्तर्विरोध नहीं नजर आता। कविता में अनुप्रास अन्त्यानुप्रास, ध्वन्यालंकार आदि के स्वाभाविक प्रयोग ने कविता की गेयता एवं अर्थवत्ता में अपूर्व श्रीवृद्धि की है।

*I chatter chatter, as I flow
To join the brimming river,
For men may come and men may go,
But I go on for ever.*

'जीवन का झरना' में आरसी बाबू ने इसी चिरन्तन सत्य की काव्यात्मक प्रस्तुति जैसी सटीक एवं सरल शब्दावली में की है वह वस्तुतः श्लाघ्य है-

निर्झर में गति है, जीवन है।
वह आगे बढ़ता जाता है।
धुन एक सिर्फ है चलने की,
अपनी मस्ती में गाता है।

X X X X

*I come from haunts of cool and fern
I make a sudden sally
And sparkle out among the fern
To bicker down a valley.*

यह बात और है कि landscape, skyscape एवं seascape जिसे हम भू-विस्तार, ख-विस्तार तथा जल-विस्तार के द्वारा जान सकते हैं, वे अपने सीमित अर्थ में भौगोलिक एवं सांस्कृतिक भिन्नता के बावजूद व्यापक अर्थ में एक ही सत्य की उद्घोषणा करते हैं। अतः बृहत्तर अर्थ में साहित्य विषयक देश-काल-सापेक्ष धारणा तिरोहित हो जाती है और रूसी साहित्यकार चेखोव की

यह मान्यता चरितार्थ प्रतीत होती है कि दुनिया की सारी ऊँची प्रतिभाएँ भिन्न भाषाओं में सही, किन्तु एक ही सत्य के उपादान हैं, समाहार हैं। यह सिद्धान्त चिरचर्चित वेदान्त वाक्य का पोषण करता है- **एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति।**

'द बुक' एवं 'जीवन का झरना' का अवसान थोड़ी भिन्नता के साथ जैसी भावैकता को व्यंजित करता है वह उद्भरणीय है-

चलना है केवल चलना है
जीवन चलता ही रहता है।
मर जाना है रुक जाना ही
निर्झर यह झरकर कहता है।

*And out again I curve and flow
To join the brimming river,
For men may come and men may go,
But I go on for ever.*

भारतीय दार्शनिक पृष्ठभूमि की प्रधानता के कारण आरसी प्रसाद सिंह जीवन की गतिशीलता को झरने की गतिशीलता में प्रतिभासित करने में सफल हैं; चूँकि निर्झर का विराम उसके अस्तित्व पर प्रश्नचिह्न है, अतः वे ठहराव को मृत्यु मानते हैं। यद्यपि भारतीय चिन्तन में जीवन का विराम मृत्यु का बोधक तो है किन्तु काल की अखण्डता तथा आत्मा की अमरता की असन्दिग्धता के कारण जीवन का ठहराव आवरण मात्र का परिवर्तन है जो प्रकृति-विधान-सम्मत है।

पाश्चात्य दर्शन में प्रकृति की प्रधानता तथा आत्मा की गौणता के कारण टेनिसन महोदय ने एक ओर जीवन की क्षणभंगुरता तथा दूसरी ओर प्रकृति के प्रतिनिधि रूप झरना (बुक) का पक्ष रखा है। जीवन को प्रकृति-जगत् से इतरेतर भाव-भूमि पर स्थापित करने की पूर्व पीठिका में टेनिसन महोदय का कोई निजी ख्याल होगा, ऐसी बात बिल्कुल नहीं लगती क्योंकि पाश्चात्य चिन्तन

प्रकृति और मानव जीवन को पृथक् तल पर रखता है जबकि प्राच्य, विशेषतः भारतवर्ष का चिन्तन मानव को प्रकृति से कदापि पृथक् नहीं मानता; बल्कि मनुष्य को प्रकृति-सत्ता की प्रधान कृति मानता है। देखें-

सब मम प्रिय सब मम उपजाया।
तिन्ह महँ अधिक मनुज मोहिं भाया॥

उत्तरकाण्ड, रामचरितमानस

ऐसा प्रतीत होता है कि टेनिसन एवं आरसी बाबू दोनों ही ने जीवन का चरम लक्ष्य ठहराव मुक्त गतिशीलता में देखा है, दोनों 'चरैवेति के पोषक हैं जो अमेरिकी कवि रॉबर्ट फ्रॉस्ट एवं छायावादी कवि जयशंकर प्रसाद की पंक्तियों में क्रमशः यथावत् उजागर हुआ है-

*The woods are lovely, dark and deep
We have promises to keep
And miles to go before we sleep
And miles to go before we sleep.*

इस पथ का उद्देश्य नहीं
श्रान्त भवन में टिक रहना
किन्तु पहुँचना उस सीमा पर
जिसके आगे राह नहीं है।

रोमाण्टिक भावधारा के कवि जॉन कीट्स ने जीवन-सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए यह स्वीकार किया है कि संसार के सारे प्राणी जीवन-संगीत के साथ सदैव गतिमान हैं और इस दृष्टि से पृथ्वी की कविता प्रकृति के भिन्न-भिन्न उपादानों के माध्यम से संगीत का सनातन स्वर फूँकती है-

The poetry of earth is never dead

X X X

The poetry of earth is ceasing never.

आरसी बाबू एवं टेनिसन महोदय की दृष्टि में ठहराव मुक्त जीवन कीट्स की उपर्युक्त पंक्तियों

का अनुरणन है, अनुवाद है, जबकि सुमित्रानन्दन पन्त की पंक्तियाँ तदनुरूप भाव का पूरा समर्थन करती हैं-

यह साँझ उषा का आँगन
आलिंगन विरह मिलन का
चिरहास अश्रुमय आनन
रे इस मानव-जीवन का।

यदि कविता की कसौटी यह मानी जाय कि कोई कविता किस हद तक जनकण्ठ में स्थान बना पाती है तो आरसी बाबू और लार्ड टेनिसन-दोनों ही अपने-अपने काव्य-जगत् में पाठकों के बीच समान भाव से समादृत एवं सम्पूजित हैं। उक्त दोनों ही कविताओं में पुनरावृत्ति, अनुप्रासादि ध्वनि-सौन्दर्य के कारण गेयता के साथ जीवन मूल्यों का सगर्व-साभिप्राय आवाहन है जो जनजिह्वा पर कालजयी बनकर छा गया है-

*For men may come and men may go
But I go on for ever.*

X X X
यह जीवन क्या है? निर्झर है
मस्ती ही इसका पानी है।

इसके ठीक विपरीत कवियों का एक ऐसा वर्ग है जिनकी स्वीकृति सामान्य पाठकों के बीच तो नहीं ही है, उनकी रचनाएँ पुस्तकालयीय प्रकाशनों में भी विद्वानों का वाग्-विलास का विषय नहीं बन पातीं, परिणामतः शीघ्र ही अप्रासंगिक होकर विस्मृत, अधोशायी हो जाती हैं। इस दृष्टि से आलोच्य दोनों कवि अपने-अपने क्षेत्र में लोकप्रिय बने रहेंगे।

विश्वविद्यालय आचार्य, अंगरेजी विभाग,
कॉलेज ऑफ कॉमर्स, पटना



ललित-काव्य

श्रीकृष्ण-क्रान्ति

▣ गंगा पीताम्बर शर्मा

श्रीकृष्ण के रासेश्वर का स्वरूप अत्यन्त ललित है, किन्तु उसमें भी योगेश्वर का भाव निहित है। मणि के सौन्दर्य में क्या कभी उसकी दृढ़ता तरलित हुई है!!

वयोवृद्ध कवि गंगा पीताम्बर शर्मा 'श्याम हृदय' ने इस ललित निबन्ध में श्रीकृष्ण की लीलाओं में भी उनके योगेश्वर होने का जो रूप देखा है, वह रमणीय है।

अब श्रीकृष्ण के प्रवासी होने बाद, अर्थात् गोकुल से मथुरा जाने पर भी श्रीकृष्ण विरहाग्नि विदग्धबालाओं का जीवन है अधजला सा हो गया- रह-रह कर आह-आह का आर्तस्वर व्यंजित करती है। जिनके जीवन की घड़ियां नाम रटन और स्वरूप दर्शन में व्यतीत होती थीं; अब अनवरत अश्रुधारा सम्हालने में बीत रही हैं। चिन्तन तो भयंकर और विद्रूप-असुर सा भय उत्पन्न कर रहा है जैसे चन्दन विषम-शर सा लगे। नटखट किशोर वयस्, कुंचित-कुन्तल राशि पर मोरपंख युक्त किरीट चल चितवन चपल चरण त्रिभंगी स्वरूप भला कैसे भूला जाये। रत्नजटित त्रिलर तीन लड़ियों वाला स्वर्णहार पुनः कुन्द तुलसी परिजात, मन्दार और भेंट की वनमाला से सुशोभित इषत् हास। दूसरी सखी कहती है- हमसबों ने सर्प को रस्सी समझ रखा तो उनका क्या दोष! वे हमारे शिकारी रहे और हमसब उनके शिकार। एक दिन इस ब्रजमण्डल रूपी गगन के पूर्ण चन्द्रमा श्रीकृष्ण रहे और हमसब चकोरी की भाँति एक टक ताकती। मधुवन को फटकारती हैं- जब श्याम-सलाने प्रवासी हो गए और तुम

खड़े-खड़े विहँस रही हो, देखो, कालिन्दी काली पड़ गयी। कैसा था यह पावन प्रणय! अन्तः से सुवासित। परस्पर क्या लेना-देना था। प्रेम तो कोई व्यापार नहीं, लाभ हानि से कोरा बंचित निष्काम कर्मयोग। मधुर क्रान्ति, सहज परिवर्तन है- अनिष्ट से इष्ट की ओर।

अगला तुक भी तो अनमोल ही है। कन्हैया, बलदाऊ भैया, यशोमति मैया तथा वृन्दावन की गैया। अन्योन्याश्रय सम्बन्ध। किसी के बिना-किसी को चैन नहीं। श्रीकृष्ण की अद्भुत लीलाओं को देखकर विस्मय होता- यह वस्तुतः कौन है? कभी कुछ, कभी कुछ, कभी निकट कभी दूर लगता है बाल लीलाएँ ही उनमें परमात्म-तत्त्व की झलक है। सर्वाश्चर्यमय वृत्तान्त। किसी योगी ने पूछा-आपका परमधाम कौन है, किसी सन्त और चरवाहा ने वही प्रश्न किया। नारदजी का तथा पार्थ का भी वही प्रश्न। श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया- न तद्भासते सूर्यः न शशांको न पावकः, यत् गत्वा न निवर्तन्ते तद्भाम परमं मम। फिर-

नाहं वसामि वैकुण्ठे, योगिनां हृदये न च

मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद।
फिर-

गावो मे अग्रतः सन्तु गावो सन्तु पृष्ठतः।
गावो मे पार्श्वतः सन्तु गावो मध्ये वसाम्यहम्।

अर्थात् जो तप योग साधना में निरत हैं, ब्रह्मभूत हैं उनके लिए मेरा धाम गोलोक है, (जहाँ न सूर्य, न चन्द्रमा, न अग्नि है, और जो वहाँ पहुँचता है, फिर लौट कर नहीं आता) पुनः सामान्य लोगों के लिए तो मैं वैकुण्ठ में नहीं रहता, न योगियों के हृदय-मन्दिर में मेरे परायण-भक्त जहाँ मेरा नाम-कीर्तन करते हैं, मैं वहीं रहता हूँ। जो अनाड़ी कुछ नहीं जानता, मुझे गाय का प्रिय जानकर मात्र गोचारण, गोसेवा में रहता है, उसके लिए मैं उन्हीं रूपों में वास करता हूँ। मेरे दाहिने-बायें और, आगे-पीछे गायें हों तो गोमध्य ही मेरा निवास है। श्रीकृष्ण ने उपासना की श्रीराधा की, तो श्रीराधा ने श्रीकृष्ण की। सम्मान और समानता, कोमलता और सौन्दर्य, तेजस् और क्रान्ति का सनातन-समन्वय, सुख-शान्ति प्रदाता है। माता का मातृत्व सुधापूर्ण स्नेहकलश है। जिस प्रकार भारत की धरती को प्रकृति ने- कुछ न छिपाकर सांगोपांग सँवारा है उसी प्रकार माता यशोदा ने अपनी कल्पना प्रसूत अशेष सौन्दर्य विभूति से श्रीकृष्ण को ढँक दिया है। श्रीकृष्ण के नखशिख साज-सिंगार गो-चारण गमन बेला के पूर्व हो जाता। साथ-साथ अग्रज बलराम का भी। सचमुच गैया-कन्हैया भैया-मैया का संगम अनुपम।

माता यशोदा द्वारा रचित बालरूप त्रिलोकेश्वर श्रीकृष्ण का अद्भूत श्रृंगार देख देव-दनुज सभी तरस उठते हैं। देखिए-

चरण युगल मंजीर मृदुल रव
झनक-झनक जब जात कन्हैया,
कलई कंगन करत खनाखन
इन्द्र नील मणि झलकत ठैया।

दिव्य मौलि पुनि दिव्य सुविग्रह
दिव्य आभरण दमकत ज्योती,
रचित चित्रभंगी बहु रंगे
अंग अनंग समान विभूती।
कज्जलि रेख अरुण उत्पलदृग
नील सरोरुह कुंजविहारी,
चन्द्र ज्योत्सना विम्ब अम्बु-सम
मुकुर नीलमणि जडित किनारी।
कमल कन्हार केतकी कुन्दन,
सुमन हार हरि के उर भावे,
यशोमति इत अवलोकत छवि अति भोरी
गीत मनोहर मंगल गावे।
अगुरु सुधा आप्लावित स्यन्दन
आचमनी अर्पित कर मैया,
लाल कनेर गन्धराज की
जूड़ा बाँधत सुघड़ कन्हैया।
प्रकृति नटी नटराज श्यामला
धरा मंच बहु खेल रचैया,
नाम अनन्त कन्त व्रज वनितनि
'श्याम हृदय' भवपार करैया।

गोचारक सखा परिकर के साथ चले गये। उस समाज के श्रेष्ठ आप कदम्ब तल बैठ जाते। अमरावती के सुरवृन्द को आश्चर्य होता उनकी लीलाओं पर। ब्रह्मा को सन्देह हुआ जो वन पड़ा सो किया। अन्त में उस परात्पर स्वरूप के आगे क्षमा याचना करनी पड़ी। मदमत्त अमरेन्द्र ने भी व्रज पर कोप कर ठिकाने लगे। गोपियों को स्वप्न में साकेत-दर्शन की उत्कण्ठा पूरी की। उस लीला पुरुषोत्तम की अनुपम लीला का वर्णन यों है-

कालिन्दी गजा कुलगा प्रिय
बल्लभ माधविकुंज लसैया।
नीरद विज्जू प्रभा वरणी
श्रीकृष्ण प्रिया मन गेह बसैया।
रूप त्रिभंग अनन्त अनंग

छटा पटपीत अनूप लखैया,
माधविकुंजन गुंजन मादन
संग किलोल विलोकत मैया।

कैसी है उनके अंतरंग की स्निग्धता, पावन
मैत्री, तादात्म्यता। कबसे इन आँखों से विलग
दारिद्र्य के कुचक्र में पीसे जा रहे। सन्तरी शीश
नवा करबद्ध हो सूचना देता है-

शीश पगा न झगा तन में प्रभु
जाने को आहि बसै केहि ग्रामा।
धोती फटी सी लटी दुपटी
अरू पांय उपानह को नहि सामा।
द्वार खड्यो द्विज दुर्बल एक
रहयो चाकिसों वसुधा अभिरामा,
पूछत दीन दयाल को धाम
बतावत आपनों नाम सुदामा॥
'कहा सुदामा वापुरो कृष्ण मिताई योगा।'

सुनते ही श्रीकृष्ण जैसे परम-मित्र के लिए
अचानक गोली लगी पक्षी की दशा में आ जाना
स्वाभाविक था। चल पड़े-अधीर होकर। द्वारिकाधीश
होने का ज्ञान-भान नहीं। मित्र के शरीर आच्छादन,
उपरनी, परिधान-व्यक्तित्व से कोई प्रयोजन नहीं।
बस, सुदामा नाम श्रवण-मात्र की प्रतिक्रिया रही।
दीन सुदामा की ओर चल पड़े। विहाल और विभोर
होकर। अब कवि का हृदयगत भाव सुनिए:-

ऐसे बेहाल बेवाइन सो पग-
कण्टक जाल लगे पुनि जोए।
हाय महादुःख पायो सखा तुम
आए इतै न किते दिन खोए,
देखि सुदामा की दीन दसा
करुणा कर के करुण निधि रोए,
पानी परात को हाथ छुयो नहि
नैनन के जल सौं पग धोए॥
इस आचरण और धारणा में श्रीकृष्ण क्रान्ति

अन्तर्निहित है। मित्र किसी जाति का हो, दरिद्र,
कंगाल हो, या अगड्धत धनी, महाराजाधिराज हो
या दीनार्त, मानवता बरती जानी चाहिए।
'सर्वस्याभ्यागतो गुरुः' के अनुसार साधारण अतिथि
को भी गुरु का सम्मान देना चाहिए। माता-पिता,
गुरुवर, पुरोहित, आचार्य, सखा, शरणागतों के प्रति
समयोचित सत्कार वरेण्य है। नररूपी वृक्ष का
सदाचरण ही सुगन्ध और फूल है। लोकप्रियता
पत्रावली है। परिशोभन और सत्कर्म ही फल है।
मित्र-मित्र का परस्पर अलगाव दुःखदायी होता
है- विरहे यादृशं दुःखं तादृशी दृश्यते रतिः।
कृष्णेति वैष्णवं मन्त्रं श्रुत्वा मुक्तो भवेन्नरः।
'मानस' में भी - "जो न मित्र दुःख होहि दुखारी,
तिन ही विलोकत पातक भारी।" कहा गया है।

निर्लोभ ब्रह्मण सुदामा के द्वारा पत्नी से यह
पूछे जाने पर कि मित्र ने क्या दया की है- तो उत्तर
देते हैं-

मेरे लिए हरि के पद पंकज,
बार हजार लै देखूँ परीक्षा।
और न को धन चाहिए बावरि
बाभन के धन केवल भिक्षा॥

भगवान् श्रीकृष्ण की सहिष्णुता का भी
अभूतपूर्व दृष्टान्त है- महर्षि दुर्वासा का शुभागमन।
उनके प्रति श्रद्धा-सम्मान-भाव और भय होना भी
स्वाभाविक था। यह कहते बढ़ते जाना कि जो
कोई मुझे ठहराए मेरे आदेशानुसार कार्य करे- मेरा
अनुशासन माने। श्रीकृष्ण ने देखा; विनीत भाव से
करबद्ध प्रार्थना की- "भगवान्, ऋषीश्वर, मेरे
यहाँ पधारकर इन चरणों के रजःस्पर्श से इस धाम
को पावन किया जाय। मुझे अनुगृहीत किया
जाय।" महात्मा रुके।

कहा- "आज्ञा पालन स्वीकार है?"

"हाँ भगवान्, स्वीकार है।"

"केवल तस्मई (खीर) तैयार करावो।"

खीर तैयार हुई। सेवा में खीर निवेदित हुई। उन्होंने कुछ खाया और अवशिष्ट उच्छिष्ट खीर को श्रीकृष्ण से अपनी देह में लेप कर लेने को कहा। फिर रुक्मिणी को भी वहीं आदेश। आदेश पालन हुआ। फिर रुक्मिणी को रथ में जुताया। रथ पर सवार हो गए- बस, रुक्मिणी की देह पर सटा-सटा कोड़े लगने लगे। श्रीकृष्ण पीछे-पीछे कहते जाते- “हे ऋषीश्वर, हे भगवन्, क्षमा कीजिए, दया कीजिए, वह सुकुमारी है, मुझे जुताइए, मुझे मारिये।” कुछ दूर जाने पर रथ रुका। श्रीकृष्ण ने पुनः विनीत भाव से दुहराया। दुर्वासाजी रथ से उतरे, रुक्मिणी को हटाया। पुनः कहा- “हे शिवभावन, हे त्रिलोकपति वासुदेव! मैंने तेरी सहिष्णुता की परीक्षा ली, दुस्साहस किया। क्षमा करना वासुदेव! सहिष्णुता भी मधुर क्रान्ति है।” दुर्वासा मुनि ने भी समझ रखा था कि इस वृत्तान्त का परिणाम भी अच्छा होगा। जंगल में भी मंगल करनेवाला मंगलमूर्ति भगवान् मुरलीमनोहर ही तो है।

उन्हीं पर अटूट विश्वासभाजन, सूरदास अबल हो सबल की भाँति उसी श्यामसुन्दर को चुनौती देते हैं-

बाँह छुड़ाए जात हौ निबल जान के मोहि,
हृदय से जो जाइ हौ मर्द बखानौ तोहि।
और-

हृदयाद् यदि निर्यासि पौरुषं गणयामि ते।

बालकों की तोतली वाणी अशुद्ध नहीं मानी जाती उसी प्रकार अटपटी वाणी में कमल दललोचन को धपोचन कहना असंगत अशुद्ध और अमान्य नहीं। दण्डकारण्य के साधक सिद्ध साधु भगवान् को प्रसन्न नहीं कर सके तो द्वापर में प्रिभुवन सुन्दर, कन्दर्प ओर अश्विनी कुमार को लजानेवाले श्रीकृष्ण के सानिध्य में गोप-गोपी बन प्रेम बन्धन में बाँध नाच नचाया। उखली

में बँधे, नयनन नीर दिया।

भीतर-भीतर हँसी देख लो,

बाहर-बाहर रोना चरितार्थ हुआ।

भला अष्टावक्र सैरन्ध्री (कुब्जा) को सुन्दरी सम्बोधित करनेवाले को बाह्य चाकचिक्य दिखावा से क्या प्रयोजन। बस, आत्मशुद्धि तो चाहिए। पावन प्रेम, पावन भक्ति और भक्तविवश भगवान् हैं। मानिनी-मानद के बीच के सम्भाषण से किस भाव का प्रदर्शन हो रहा है- विचार कीजिए सखी-

आओ कन्हैया, कदम की छैया बात करें मन की,
जो नहीं आवत शपथ हमारी, और धेनु धन की।
नभ निरभ्र रवि अंशु प्रखर श्रम कण झलके तन का,
धरो पीत पट, डाल माल हूँ दो निकाल मन का॥

तरणी तनुजा तट तर, वर तल शीतल शूक सधन को,
केकि चन्द्रिका मौर मोर भी सुनो न बात छलन को।
सत्य सन्ध, कर सत्य सनातन, का भूल्यो तन-मन का,
व्रज गलियाँ मँह कहूँ न पायो, श्याम फिरे वन-वन का।
श्याम-

हाँ मृदु भाषिनि, रास विलासिनि मानिनि इन्दु कला-सी,
कच कलाप चक रमणी रूरे निकसी बात उलासी।
प्रेम लटेरी कर-पल्लव मँह मैं पतंग अरुझाया,
कजरारी लोचन कटाक्ष को पीर मिटाने आया॥

करो मनोगत बात किशोरी गोरी चोरी, नहीं-नहीं,
यहाँ नहीं निर्जन निकुंज अभिसार सुसज्जित और कहीं।
घटा टोप घन टपकत सींकर सी-सी बहे बयार जहाँ,
जेठ दोपहरी शीर्ष सूर्य सिकतामय स्थल रहे तहाँ॥
सखी-

हाँ जी छलिया व्रज गलियों में छन्न वेष छलता आया,
कुंज कुंज में भ्रमणशील भौरों-सा सबको भरमाया।
माखन चोर कहाए उखली बँधे नयन से नीर झरे,
व्रज-वनिता की सीख लीख पढ़ हुए सयाने चीर हरे॥

कहें कौन-सा काम धाम है कालिन्दी तट दोपहरी,
कह करील के कुंजों में क्या करते आतप ताप खरी।
ब्रज गोपी गण गुरुवर तेरे गोपनीयता प्रकट भई,
छल प्रपंच कह कबतक निवहे सेंध धरे सब जान गई॥

तुम्हें क्षमा करती आई सब दिन से अब भी क्षमा करूँ,
कर पन गो की, दरसन दूँगा नित्य और मैं ध्यान धरूँ।
प्रेम ढूँढ़ती रही बटोहिन बिनु प्रपंच की आँच लगे,
आस लगाई निश्चल-निश्चल द्वार खड़ी रह प्रेम पगे॥
सखा-

आवो प्यारी बात उभारी, बहुत भई अब देर न कर,
चलो झुलावें झूला झूलें, भूले वे सब बात न पर।
झुला झुलावें बारी-बारी करें मनोगत बात अभी,
नील गगन तारे गण चमकें तब तक झूलें शाम जभी॥

तेरे मेरे बीच सदा का झगड़ा सुखद सुहाना है,
मानिनि मानद अन्तर स्थल सौदा, पर इतराना है,
सदा रहे हम एक हेकड़ी सदा सबों की चूर भयी,
'श्यामहृदय' का स्वान्त सुखद यह क्षमा करूँ मैं वेदमयी॥

ललिता ने कहा- हे प्राण प्यारे तपोधन!
आप क्षण ही में निकटतम और क्षण ही में दूरस्थ
देशी-प्रदेशी लगते हैं। मुझे कब से यह विभ्रम हो
रहा है, विभ्रान्त हूँ- क्योंकि-

अस भाग्य सरीसृप राजन शीश-

सुशोभित श्यामल वंशी टेरे,

नाग शिरोमणि कामिनि कर-

जोर विनवे नतमस्तक घेरे।

पाप नशावन पावन गोकुल-

गाय चरावन जात कन्हैया,

जो जगदीश चराचर के पति

माँगत माखन रोटी मैया।

ओखल बांध रखी यशोदा

जिनके भय से सब देख थरैया,

मन्मथ मन्थन वयस किशोर

रचे वृन्दावन रास कन्हैया

अरुण कमल दल लोचन श्यामल,
सस्मित मुख मुरली अति बाँकी।
चपल-चरण घुँघरू मृदु वादन
श्रुतिपट कुण्डल चितवन चाकी।

राशब्दश्च महाविष्णुर्विश्वानि यस्य लोमषु।
विष्णुः प्राणिषु विश्वेषु धाधातृमातृवाचिकः।
धात्री माताहमेतेषां मूलप्रकृतिरीश्वरी,
तेन राधा समाख्याता हरिणा च पुरा बुधैः॥

श्रीराधा कृष्ण शब्द मात्र त्रिभुवन के दोनों
पक्ष सुकुमार्य और पुरुषार्थ द्योतक ही नहीं, प्रत्युत
अविरल पावन प्रेम की असीम परिधि के अन्दर
सर्वसुखमय जीवन जीने की सफल प्रक्रिया का
द्योतक है। गौर तेज श्रीराधा की सर्मचना प्रथम
और द्वितीय समर्चना श्रीकृष्ण की होनी चाहिए।
पर जिन्होंने राधा में कृष्ण और कृष्ण में भी राधा
को देखा- उनके लिए श्रीराधा-कृष्ण की उपासना
'श्रीराधाकृष्णाभ्याम्' के रूप में करना उचित है।
कृष्णा के लिए कृष्ण और कृष्ण के लिए कृष्णा
उपास्य हैं। ये दोनों शुभ्र विग्रह प्रेममयी-प्रेममय
के प्रतीक हैं। श्रीराधा ही चम्पक वन की चम्पावती,
चन्द्रवन की चन्द्रावती, शतशृंग की सती, पद्म
वन की पद्मावती, कुंज-कुटीर की भद्रा, काम्य
वन की काम्या, सनातनी-विष्णु माया
कृष्ण-दाह्य-प्रदात्री तथा श्रीकृष्ण की उपास्या है।
श्रीकृष्णविषयक प्रेम सागर से समुद्भूता
चन्द्रस्वरूपिणी श्रीराधा-काव्य की सरसता दिनानुदिन
प्रौढ़ होती जा रही है। माधुर्य-साहित्य का कलेवर
श्रीराधाकृष्ण के सजीव और सरस चित्रण से
अलंकृत-छबीला होता जाता है। अपूर्व लावण्यवती,
नित्य नव-नवायमान, सुरमुनिमोहिनी सुरगणवन्दिता
श्रीराधा जू के प्रति जो श्रद्धा-भक्ति एवं प्रपत्ति
पूर्ण अभिव्यक्ति की गई है वह वस्तुतः रसराज
शृंगार एवं वात्सल्य से ओतप्रोत है। श्रीराधाजी की
उपासना एककालीन द्विकालीन, त्रिकालीन और

अष्टकालीन है। पर अनन्त अन्तरिक्ष-सा अज्ञेय है। कमलकान्त के उदित होने से कमल-कलित सरोवर अपूर्व आभा से आच्छादित हो जाता है, श्रीकृष्ण के दर्शन, स्पर्शन, श्रवण, भाषण-संभाषण से श्रीराधा परमानन्द-विभोर हो जाती है। जयदेवजी का गीतगोविन्द तो श्रीराधाकृष्ण की भक्ति-भागीरथी का तीर्थ-स्थान है। श्रीकृष्ण विषयक शब्द सम्पदा से अभिभूत कवि ने अपने माधुर्य, ओज, अलंकार आदि का सम्यक् प्रयोग किया है। ओज, माधुर्य और प्रसाद गुण का समन्वय गीतगोविन्द है। यह श्रीराधा श्रीकृष्ण एवं कवि-कल्पना की प्रौढ़ता का परिपाक है।

कृष्णकाव्य तो राधा-कृष्ण के पावन प्रेम की परिपुष्टि ही नहीं प्रत्युत् साक्षात्कारक भी है। जिन्होंने चाहा- साक्षात्कार कराया। निर्गुण से सगुण में आए, महाविराट् से क्षुद्र विराट् में। किसी भी महाकाव्य का सृजन नव रस प्रधान शृंगार से होता है तथा शृंगार सरिता का प्रभव श्रीराधा कृष्ण के प्रणव-मंत्र-महोदधि से होता है। वेद श्रीकृष्ण की ओर इंगित करते हुए 'रसो वै सः' का संकेत करते हैं। और श्रीकृष्ण 'रसो वै सा' कह श्रीराधाजी की ओर संकेत करते हैं। शिकंजी में कहाँ है पानी और कहाँ है शक्कर, पुष्प में कहाँ है सौरभ और कहाँ है गन्ध, कहना दुष्कर है। तदेव

श्रीराधाकृष्ण में ऐसा जटिल सामंस्य है। भक्ति परिधि के अन्दर प्रविष्ट उपासक को अपनी भी सुधि नहीं रहती तो पाठक के उबे मनोभावों को विस्मृत होना स्वाभाविक है। सरस प्रसंग से रसिक नहीं ऊबते। अतएव कुछ और। जहाँ श्रीराधा जी विराजमान हैं, वहीं सदाबहार, सदा वसन्त, सदा नव पल्लवन, सदा कोकिल-काकली का हृदयस्पर्शी प्रभाव, मधुवात स्थिर है। श्रीराधाजी की सेवा में जड़ प्रकृति और चेतन पुरुष निरत है। पाहन के समान कठोर हृदय पर इसका प्रभाव नहीं पड़ना भी स्वाभाविक है। उसकी चिन्ता भी नहीं। सबका सौदा एक नहीं होता।

पीयूष-वाहिनी तरंगिणियाँ, मधुगन्ध-वाहन पवन, सारी वनस्पतियाँ मृदु गन्धवान् कुसुम, सब के सब काँबरिया बनकर प्रेम सागर की ओर अग्रसर हैं। चाञ्चल्य प्रधान चंचरीकों का गुंजन भी गोविन्द के गीत-सा लगता है। द्रुम-मंजरियों पर मँडराते मुरली मनोहर भी श्रीसहेलियों सहित परिक्रमा कर मनमुदित हैं। और विश्व को, अपनी रूप माधुरी से छल रहे हैं।

श्रीकृष्ण-क्रान्ति स्वत्व का अभिमान मिटा कर समष्टिवाद की स्थापना का अभियान है।

(क्रमशः)



जगद्गुरु रामानन्दाचार्य के पद

हरि बिन जन्म वृथा षोयो रे।

कहा भयो अति मान बड़ाई, धन मद अंध मति सोयो रे।

अति उतंग तरु देषि सुहायो, सैबल कुसुम सूवा सेयो रे॥

सोई फल पुत्र कलत्र विषै सुष, अति सीस धुनि धुनि रोयौ रे।

सुमिरन भजन साध की संगति, अंतरि मन मैल न धोयौ रे॥

रामानंद रतन जस त्रासैं श्रीपति पद काहे न जोयौ रे॥१॥

रामानंद की हिंदी रचनाएँ, संपादक: स्व. डा. पीतांबर दत्त बड़थवाल,
नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

राम-काव्य की परम्परा में,

सन्त सूरजदास-कृत 'रामजन्म' काव्य-कृति'

□ युगल किशोर प्रसाद, साहित्यकार

अपने देश में राम-काव्य सृजन की समृद्ध परम्परा रही है। भारतीय काव्य-परम्परा के विकास में सन्त कवियों का महान् योगदान है। हिन्दी साहित्येतिहास में वीरगाथा काल के बाद भारतीय भक्ति

काल विश्व-वाङ्मय में हमारी श्रेष्ठता सन्त कवियों द्वारा रचित महान-काव्य-ग्रन्थों (मुख्यतः राम-कृष्ण काव्यों) के कारण ही सुरक्षित रह पायी। इस काल का सन्त-काव्य होमर-कृत 'इलियड और ओडेसी' से होड़ लेता हुआ अपना वर्चस्व दुनिया की महती कृतियों पर स्थापित करता है।

भक्ति-काव्य के

कृतिकारों में सूर-तुलसी का नाम अग्रगण्य है। महाकवि सूरदास कृष्ण-भक्ति शाखा के प्रमुख हस्ताक्षर हैं तो सन्त-शिरोमणि तुलसीदास राम-भक्ति शाखा के प्रबलतम स्तम्भ। भक्ति-काल में निर्गुण और सगुण भक्ति की धाराओं ने जन-जीवन को ज्ञान-भक्ति रस से आप्यायित-आप्लावित किया था, जिसका प्रभाव जन-मानस पर कमोवेश आज तक अक्षुण्ण है। सूर और तुलसी क्रमशः- काव्य-सौर जगत् के सूर (सूर्य) और 'शशि' (चन्द्रमा) हैं- 'सूर सूर तुलसी शशि' निस्संदेह उनकी ऊँचाई अन्य किसी पूर्ववर्ती या उत्तरवर्ती कवि ने नहीं पायी, किन्तु इन पर अपने पूर्ववर्तियों का यत्किंचित् प्रभाव निर्विवाद है। खासकर गोस्वामी तुलसीदासजी पर इनके पूर्ववर्ती सन्त कवि सूरजदास का निश्चित प्रभाव रेखांकित किया जा

सकता है। सन्त कवि सूरजदास की काव्य-कृति 'रामजन्म' के प्रकाश में 'रामचरितमानस' के बालकाण्ड को देखने पर सन्देह की गुंजाइश नहीं रह जाती है।

कवि कुल- चूड़ामणि तुलसीदास ने राम के समग्र जीवन की प्रस्तुति 'मानस' के रूप में की, किन्तु सन्त कवि सूरजदास ने रामजन्म, मोटे तौर पर 'मानस' के बालकाण्ड तक ही अपने को सीमित रखा। छन्दों में दोहा-चौपाई का प्रयोग सन्त कवि ने किया है। आकार की दृष्टि से यह एक लघु प्रबन्ध है। उद्देश्य में यह महान् है। मेरे विचार से भक्त कवि नरोत्तम दास ने 'सुदामाचरित' लिखकर जो कीर्ति अर्जित की,

रामभक्ति-धारा के मूर्धन्य कवि सन्त सूरजदास जी तुलसी के अत्यन्त पूर्ववर्ती है। 'रामजन्म' इनकी अनुपम रचना है। यद्यपि 'मानस' के बालकाण्ड में वर्णित 'रामजन्म' कृति की स्पष्ट छाया से भी तुलसी उबर नहीं पाये हैं। 'जित देखौं तित लाल' की भाँति 'मानस' इससे ओत-प्रोत है। प्रस्तुत लेख इसी भावाभिव्यंजना की एक पहल है।

मित्रता और भक्ति का जो आदर्श प्रस्तुत किया, सन्त सूरजदास 'रामजन्म' काव्य की रचना कर वैसी ही कीर्ति के अधिकारी बन गये।

उनका रचनाकाल, शोध के आधार पर गोस्वामी जी से एक सौ चार वर्ष पूर्व निर्धारित किया जा चुका है। बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना द्वारा डॉ. धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री के सम्पादन में जो 'रामजन्म' कृति प्रकाशित की गयी है, विद्वान् सम्पादकों ने इस रचना को 'मानस' का पूर्ववर्ती बतलाते हुए 'मानस' की तुलना में एक सौ चार वर्ष पुराना सिद्ध किया है। इतना ही नहीं दोनों कृतियों की काव्य-पंक्तियों के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर तुलसी पर उनके प्रभाव का भी उल्लेख किया है। उदाहरणार्थ- 'रामजन्म' काव्य-कृति की दोहा-

संख्या- 61

दैत वध के कारने तुम प्रभु लीन्ह अवतार।
विप्र धेनु सुर सन्त हित करहु सदा प्रतिपार॥

का प्रत्यक्ष प्रभाव 'मानस' की निम्नांकित
चौपाई पर देखा जा सकता है-

विप्र धेनु सुर सन्त हित लीन्ह मनुज अवतार।
निज इच्छा निर्मित तनु माया गुन गोपाल॥

गोस्वामीजी ने अपनी महनीय रचना 'मानस'
को 'नाना-पुराण-निगमागम-सम्मत' बतलाकर अपने
ऊपर प्रभाव को स्वीकार भी किया है। उन्होंने
श्रीमद्भगवद्गीता के श्लोक-

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

के अविकल अनुवाद द्वारा भी अपनी रचना
'मानस' को समृद्ध बनाया है-

‘जब जब होहिं धरम की हानि,
बाढ़े असुर अधम अभिमानी
तब तब लेइ प्रभु मनुज शरीरा,
हरहिं रोग सज्जन भव पीरा।

‘श्रीमद्भागवत्’ के बहुतेरे श्लोको का भावानुवाद
भी 'मानस' में मिलता है।

'मानस' के स्रोतों में 'क्वचिदन्यतोऽपि' के
अन्तर्गत सन्त सूरजदास कृत 'रामजन्म' काव्य भी
निश्चित रूप से आता है। भाषा की दृष्टि से तुलसी
कृत 'मानस' में जहाँ परिनिष्ठित अवधी का संस्कृतमय
रूप उपलब्ध होता है, वहाँ सन्त कवि सूरजदास की
काव्य-भाषा 'भोजपुरी अवधि मिश्रित भाषा' का
उदाहरण है। इनके काव्य में प्रयुक्त- उधिआई, झोंटा,
झझकारि, गोड़, अछोय, करखा, सूते, होखे जैसे
अनेकानेक शब्द इसके उदाहरण हैं। उनके भाषा-प्रयोग
के आधार पर शोधकर्त्ताओं ने उन्हें हरिहर-क्षेत्र,
गण्डकी, पुनपुन आदि के आस-पास के क्षेत्र का
वासी होना सिद्ध किया है। मेरे ख्याल से कविवर
सूरजदास का जन्म-स्थान जहाँ-कहीं भी रहा हो,
इससे विशेष फर्क नहीं पड़ता। अपनी काव्य-कृति
द्वारा उन्होंने राम-कथा की मन्दाकिनी अवश्य बहायी

है, जिसका बहाव जन्म-स्थल की सीमा को लाँघकर
सर्वत्र फैल चुका है। सन्त कवियों ने कभी अपने आप
को महत्त्व नहीं दिया। खास कर अपनी काव्य-कृतियों
में आज के रचनाकारों की तरह 'भूमिका' या
'आत्म-परिचय' के रूप में 'आत्म-विज्ञापन' का
प्रश्रय कभी तो नहीं ही दिया। उनका मात्र उद्देश्य
पावन चरित्र का उद्घाटन रहा। उनका लक्ष्य
'आत्म-प्रचार' कभी नहीं रहा। वस्तुतः रचनाकार द्वारा
प्रस्तुत रचना ही सही कवि-परिचय है। सन्त कवियों
ने अपनी कृति के रूप में अपना परिचय दिया है।
सन्त-साहित्य के जिस अंश का अध्ययन-अध्यापन
स्कूलों- विश्वविद्यालयों में होता आया है, उनके बारे
में प्रचुर जानकारियाँ प्राप्त हो जाती हैं। किन्तु सूरजदास
जैसे राम-काव्य की मन्दाकिनी वाले श्रेष्ठ कवि अर्चिर्चित
रह जाते हैं, इसमें आश्चर्य करने जैसी कोई बात नहीं है।

काव्य-कृतियों में, वैसे भी 'भाषा' से अधिक
'भाव' का महत्त्व सर्व-स्वीकार्य है। कवि के काव्य
की महत्ता प्रारम्भिक स्तर पर भाव में निहित होती है,
चाहे शुद्ध परिनिष्ठित भाषा का प्रयोग हो, या ठेठ
गँवई भाषा का, भाव के आधार पर कृति की महत्ता
निरूपित होती आयी है और भक्ति-काव्यों में तो भाव
का ही अधिक महत्त्व है और इसी कारण डॉ. हजारी
प्रसाद द्विवेदी ने कबीर के काव्य की महत्ता स्थापित
की है। वह समय एक दिन जरूर आएगा जब सन्त
कवि सूरजदास का नाम भी राम-कथा के गायकों में
आदर से लिया जाएगा। इसकी सही शुरुआत बिहार
राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना द्वारा प्रकाशित सन्त सूरजदास
कृत 'रामजन्म' के प्रकाशन से हो चुकी है। इस
काव्य-कृति के 'रामचरितमानस' से एक सौ चार साल
पुराना होना- ईश्वरदास कवि की 'स्वर्गारोहिणी कथा'
नामक पोथी से भी सिद्ध हो चुका है। अपनी उस
पोथी में ईश्वरदासजी ने- 'सूरजदास सीतापद गायो'
लिखकर सन्त कवि सूरजदास की कृति 'रामजन्म'
की ही याद दिलाई है।

प्रसंगात् राम-कथा-रचना की पृष्ठभूमि
विचारणीय है। पुराणों में राम-कथा अवश्य आयी है,

किन्तु सन्दर्भ रूप में। आदिकवि वाल्मीकि ने संस्कृत भाषा में अपनी रामायण लिखकर रामकथा को समग्रता में प्रस्तुत किया। महामना व्यासदेव ने भी 'अध्यात्म रामायण' की रचना संस्कृत भाषा में की। संस्कृत में रामकथा की विपुल परम्परा रही है किन्तु लोक-भाषा में राम-काव्य का प्रणयन, सम्भवतः पहले-पहल सन्त सूरजदास ने ही किया, जिससे 'मानसकार' गोस्वामीजी का लोक-भाषा में रचना का मार्ग प्रशस्त हुआ। 'हरि अनन्त हरि-कथा अनन्ता' अनादिकाल से लेकर आजतक रामकाव्य की रचना अलग-अलग भाषाओं में होती आ रही है। प्रायः हर युग के कवियों ने राम-कथा प्रस्तुत करने में अपनी लेखनी चलाई, स्याही खर्च की। इसका कारण था, जिसे आधुनिक युग के महाकवि मैथिलीशरणजी गुप्त ने स्पष्ट किया—**राम तुम्हारा चरित स्वयं ही काव्य है। कोई कवि बन जाय, सहज संभाव्य है।**

प्रस्तुति की दृष्टियाँ अवश्य अलग-अलग रहीं। आदिकवि ने राम-कथा को प्रामाणिक इतिहास के रूप में प्रस्तुत किया महामना व्यासदेव ने राम के चरित्र को आध्यात्मिकता से ओत-प्रोत कर चित्रित किया। आदिकवि के राम संसारी महामानव थे तो महर्षि व्यास के राम आध्यात्मिक अलौकिक पुरुष। सन्त कवि सूरजदास ने मध्यम मार्ग अपनाया है। उनके द्वारा चित्रित राम का स्वरूप लौकिक-अलौकिक का मिश्र रूप है। राम, निश्चय ही, अवतारी पुरुष हैं, किन्तु कवि सूरजदास ने अलौकिकता का मंडन पूरे काव्य में कहीं नहीं किया है। वे देवों के आराध्य अवश्य हैं। तुलसी के राम तो विश्व-ब्रह्माण्ड नायक और अलौकिक पुरुष ही अधिक हैं। कृष्ण की तरह राम का चरित्र अलौकिक तत्त्वों से निर्मित है।

रामजन्म की प्रचलित कथा को ही सन्त सूरजदास ने काव्य-वाणी प्रदान की है। वे 'मानसकार' के पूर्ववर्ती हैं, इसलिए 'मानसकार' पर उनका प्रभाव आश्चर्यजनक नहीं है। अंतर भाषा की परिनिष्ठता का है। गोस्वामीजी ने 'मानस' में परिनिष्ठित अवधी के संस्कृतनिष्ठ रूप का व्यवहार किया है, वहाँ उनके

पूर्ववर्ती संत सूरजदास ने शुद्ध अवधी का प्रयोग करते हुए बोल-चाल की भाषा को प्रश्रय दिया है। तुलसीदास ने जहाँ 'मानस' को दार्शनिकता और अतुल्य पाण्डित्य से महिमामण्डित किया है, वहाँ संत सूरजदासजी ने राम को विष्णु का अवतार मानते हुए भी बोलचाल की भाषा में सीधे-सादे रूप में जन साधारण को आसानी से समझ में आनेवाली रामजन्म की कथा कही है। यह सादगी ही संत सूरजदास कृत काव्य का महत्त्व है। अभिधा कथन द्वारा उन्होंने जन-मानस पर अमिट प्रभाव कायम कर पाने में यथेष्ट सफलता पाई है।

अपने सद्ग्रंथ का प्रारम्भ सन्त सूरजदास ने भी गणेश-वंदना से ही किया है। इसी परम्परा का अनुसरण कर गोस्वामीजी ने सन्त-सूरजदास को उपयुक्तता प्रदान की है। कथावस्तु के निर्वहन में सन्त सूरजदासजी गोस्वामीजी की तरह ही सक्षम और सफल हैं। गणेश-वंदना करते हुए सन्त कवि लिखते हैं—

**'क्रिया करो सिवनंदन, पगु बन्दौं कर जोरि।
तोहरे चरन मनोरथ सिद्ध करौ प्रभु मोर।'**

सन्तजी का अनुकरण-अनुसरण करते हुए गोस्वामीजी लिखते हैं—

**'जेहि सुमिरत सिधि होत गननायक करिवर वदन
करहु अनुग्रह सोई बुद्धि राशि शुभ गुन सदान।'**

यहाँ यह स्मरणीय है कि मध्ययुगीन सन्तों में कवि सूरजदास और उनके उत्तरवर्ती सन्त तुलसीदास उन विरल कवियों में हैं, जिन्होंने प्राचीन-पौराणिक भारत के गौरव-चरित्रों के माध्यम से भारतीय उत्पीड़ित समाज में आत्म-विश्वास की ज्योति जगायी। आधुनिक काल में वैसा ही कार्य कविवर मैथिलीशरण गुप्त और महाकवि जयशंकर प्रसाद द्वारा संपन्न किया गया। यह इस बात का भी परिचायक है कि अभिव्यक्ति की उत्कट चाह ने पुराकालीन गौरव-चरित्रों को, मानव समाज को उनकी देन के लिए कृतज्ञता-ज्ञापन के रूप में प्रस्तुत किया। निश्चय ही उनका यह आत्म-प्रकाशन, प्रथमतया 'स्वान्तःसुखाय' प्रतीत होता

है, और मेरी दृष्टि में हर रचना प्रथमतः स्वान्तःसुखाय ही होती है, खुद को सुख देनेवाली होती है, किन्तु सामाजिक-तत्त्वों मानवीय के तत्त्वों के अनुस्यूतीकरण के कारण कालान्तर में वह रचना 'सर्वजनहिताय, सर्वजनसुखाय' सिद्ध होती है। सन्त कवि सूरजदास अपनी कृति के कारण भारतीय संस्कृति के उन्नायकों में पाँपांक्तेय और लोकभाषा में प्रस्तुति के कारण अग्रगण्य भी हैं। हलाँकि शोध द्वारा यह सिद्ध हो चुका है कि अवधी में सर्वप्रथम काव्य-रचना मुल्ला दाउद-कृत 'चन्दायन' के रूप में हुई। मुल्ला दाउद (सन् 1370 ई.) और गोस्वामीजी (सन् 1574 ई०) के बीच लगभग दो सौ वर्षों का अन्तराल है। इसके मध्यभाग में 'रामजन्म' की रचना सम्पन्न हुई। युगीन सामाजिक, राजनीतिक, साहित्यिक-सांस्कृतिक आवश्यकताओं के अनुरूप काव्य-रचनाएँ होती रही हैं, वीरगाथाकाल में आश्रयदाता वीर राजाओं की प्रशस्ति में 'रासो-काव्यों' की रचना हुयी। रीतिकालीन कवि भूषण द्वारा भी प्रशस्ति-काव्य लिखे गये। 'साहू को सराहौं या सराहौं छत्रसाल को।' उक्ति प्रसिद्ध है। भक्तिकाल में मुगल शासकों और बाहरी आक्रमणकारियों के आक्रान्ताओं को धीरज देने, विश्वास जगाने, जीवन के प्रति आशावान् बने रहने के लिए राम जैसे पुराण-पुरुषों के जन्म-कर्म का चित्रण युगीन आवश्यकता थी, हालाँकि आलोचक-प्रवर डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी का मानना है कि आक्रमण जैसी घटनाएँ न भी घटित होती तो तद्युगीन काव्य का स्वरूप करीब-करीब वैसा ही होता। जो भी हो राम काव्य रचना की शुरुआत शोषित-दमित जनता के आत्म-तोषण और मानसिक ज्ञान देने के लिए की गयी। शोषित उत्पीड़ित जनता को और मानसिक ज्ञान देने के लिए की गयी। शोषित उत्पीड़ित जनता को किसी प्रबल अलौकिक आश्रय दाता की जरूरत अवश्य थी, जिसकी शुरुआत सन्त कवि सूरजदास द्वारा साहित्येतिहास में निरूपित भक्ति-काल के सौ वर्ष पूर्व की गयी।

काव्य-रचना के कई कारणों में एक प्रमुख कारण है- आत्माभिव्यक्ति की आकुलता। कवि-गुरु रवीन्द्रनाथ ठाकुर का मानना है कि "हृदय का जगत् अपने को व्यक्त करने के लिए आकुल रहता है, इसलिए चिरकाल से मनुष्य के भीतर साहित्य का वेग है।" कवि-हृदय तो आम आदमी की तुलना में कहीं अधिक संवेदनशील होता है। कवि संवेग भावों की अभिव्यक्ति देता है और सहृदय पाठकों को अपने वर्णन से संवेदनशील बना डालता है। रचनाकार हृदय-संवेदी भावों की अभिव्यक्ति के लिए आलम्बन की तलाश करता है। सन्त कवियों ने राम-कृष्ण जैसे आलम्बन को अभिव्यक्ति का आधार बनाया। सन्त सूरजदास उन कवियों में एक थे।

साहित्यशास्त्रियों का यह सुविचारित मत है कि 'साहित्य आत्माभिव्यक्ति होते हुए भी वह सदैव आत्म-विज्ञप्ति नहीं है।' यह कथन सन्त कवि सूरजदास पर अक्षरशः लागू होता है। उनकी कृति रामजन्म को आलम्बन बनाकर आत्माभिव्यक्ति का ही एक संगत उदाहरण है। उनका ध्येय अपने को विज्ञापित करना कदापि नहीं रहा। हालाँकि कबीर जैसे सन्त कवियों में यह प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है, यथा:

**'या चुनरी सुर नर मुनि ओढ़ी
ओढि के मैली कीन्ह चदरिया
दास कबीर जतन से ओढी,
ज्यों-की-त्यों धरि दीन्हीं चदरिया।'**

अहंभाव का यह प्रकाशन चेतना-अतिशयता एवं आध्यात्मिक जागरूकता का परिणाम है; अंतर्निहित भाव स्वार्थ-त्याग है।

राम-कृष्ण के जन्म से जैसे अवधवासियों एवं ब्रजवासियों का आनंदित-आह्लादित होना तद्युगीन काव्य-साहित्य में वर्णित है, 'राम जन्म' की काव्य प्रस्तुति से ठीक वैसा ही आह्लाद सहृदय जनों को हुआ होगा और राम की व्याप्ति तो रामायण, अध्यात्म रामायण और विवेच्य कृति सहित तुलसीकृत रामचरितमानस की रचना के सदियों-सहस्राब्दियों पूर्व

से रही। कवियों को यह आभास था कि राम-कृष्ण जैसे उदात्त-चरित्रों की काव्यमय प्रस्तुति से जन-जीवन पर छाये नैराश्य को दूर किया जा सकता है। समर्थ कवि स्रष्टा के साथ लोक-स्रष्टा भी होता है। जनमानस की भावनाओं का आभास हो पाना युग-द्रष्टा कवियों के लिए कठिन नहीं। इसी परिप्रेक्ष्य में सन्त कवि सूरजदास की अक्षय कृति पठनीय और मननीय है।

सन्तजी की कृति में अवगाहन से एक बात और स्पष्ट होती है वह यह कि सन्तजी के परवर्ती गोस्वामीजी रचित 'मानस' का अध्ययन सुचिन्तन जहाँ केवल श्रेष्ठ सुजानों विज्ञ पिण्डतों के लिए ही सम्भव है, वहाँ सन्तजी का 'रामजन्म' काव्य साधारण जन के लिए भी बोधगम्य है। कवि का उद्देश्य चमत्कारपूर्ण वर्णन या उक्ति के चित्र द्वारा पाठकों को विस्मित-चकित करने या पांडित्य-प्रदर्शन के बजाय लोकभाषा की सरल शब्दावली में रामकथा के प्रस्तुत अंश को आस्वाद्य बनाना था। कतिपय उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जाएगी। 'रामजन्म' कथा-काव्य की पद्य संख्या 18-08-10 में 'रामजन्म' का वर्णन निम्नवत् है-

अरुन लोचन प्रभु दीन्ह देखाई।

नील अलख प्रभु हिद सखाई॥

चारभुजा प्रभुय दरसन दीन्हा।

राम सरूप खरारी लीन्हा॥

वहीं 'रामचरितमानस' की पद्य सं. 181 (छंद) में परिनिष्ठित भाषा प्रयोग का रूप देखिए-

'लोचन अभिरामा तनु घनश्यामा।

निज आयुध भुज चारी

भूषण वनमाला नयन बिसाला।

सोभा सिंधु खरारी।'

भाषा की उत्कृष्टता के बावजूद गोस्वामीजी का भाव पूर्ववर्ती सन्त सूरजदास की पंक्तियों में भाव से उत्कृष्ट या भिन्न नहीं है।

वेद के अनुसार राम रोम-रोम में बसे हैं, जिसका भाव-चित्र दोनों कवियों ने समान रूप से उपस्थित किया है।

संत सूरजदास की पंक्तियों एवं 'मानस' की पंक्तियों का अदभुत साम्य अद्यः द्रष्टव्य है संत सूरजदास जी-

'रोम-रोम प्रभु वेद अनुसारी।

देव दिखी प्रभु करहु मनुहारी

मानस-

'ब्रह्माण्ड निकाया निर्मित माया।

रोम-रोम प्रति वेद कहै'

अपि च गिरिजा-पूजन-प्रसंग में मानसकार की पंक्तियाँ-

'तेहि अवसर सीता तहँ आई

गिरिजा पूजन जननि पठाई।'

संत सूरजदास जी की पंक्तियाँ-

'ताहि समय सीता तहँ आई।

गिरिजा पूजन मातु पढ़ाई॥'

स्वल्प-शब्द-परिवर्तन के साथ गोस्वामीजी ने अपने पूर्ववर्ती की पंक्तियों को ही प्रस्तुत कर दिया है।

कतिपय ऐसे उदाहरणों से सन्त सूरजदास की भाषा क्षमता के साथ-साथ उनकी कवित्व-शक्ति पर भी यथेष्ट प्रकाश पड़ता है। मेरी दृष्टि में, भाषा की सादगी के बावजूद भाव की दृष्टि से सूरजदासजी की प्रस्तुति किसी मायने में अल्पतर नहीं है। भावों की स्पष्ट प्रस्तुति के कारण सन्तजी की रचना, क्या निरक्षर-क्या साक्षर, सबके लिए समान रूप से बोधगम्य है। इसका कारण यह है कि राम और कृष्ण की कथा से प्रायः हर भारतीय पूर्व परिचित है। अपनी जानकारी को काव्य-रूप में पाकर हर साक्षर-निरक्षर आदमी उल्लसित अवश्य होता है। गाँव के चौपालों में रामकथा का गायन सुनने साक्षर-निरक्षर नर-नारी भारी संख्या में जुटते हैं, चाहे वहाँ 'मानस' का ही गायन क्यों न हो रहा हो। गायक अपनी ओर से भी पंक्तियाँ जोड़कर गा देता है। ऐसी पंक्तियाँ सन्त सूरजदास रचित पंक्तियों से ही साम्य रखती हैं। अन्य पंक्तियाँ जो 'मानस' की पंक्तियों से, भाषा की दृष्टि से तुल्य तो नहीं है, भाव की दृष्टि से अवश्य ही सम्पन्न हैं।

सन्त कवि सूरजदास अपने परवर्ती गोस्वामीजी के अनुरूप विनय भाव से अपनी अक्षमता निवेदित करते हैं-

‘आखर अरथ न ज्ञानौ, नहीं गुर ग्यान उपाय।
रामचरित्र कछु भाखों, श्री गुरु होहु सहाय।’

वहीं गोस्वामी जी के उद्गार हैं-

‘श्री गुरु चरन सरोज रज, निज मन मुकुर सुधार
बरनौं रघुवर विमल यश, जो दायक फल चार।’

काव्य-कृति ‘रामजन्म’ का समापन दोहा-

‘सभ रानी अस बोलहीं, बटा कहौं तो पाप,
सीता सभ की माता, राम सभन के बापा।’

से सियाराम का ईश्वरावतारी होना सिद्ध होता है।

यह सही है कि सन्त कवि सूरजदास कृत ‘रामजन्म’ में ‘मानस’ के बालकाण्ड प्रसंगों यथा-शृंगी ऋषि द्वारा पुत्रेष्टि यज्ञ, राम का जन्म, विश्वामित्र के साथ राम-लक्ष्मण का जाना, ताड़कासुर वध, राम का जनकपुर जाना, धनुष तोड़ना, और सीता को व्याहकर अयोध्या के राजमहल में लाना, जैसे प्रसंगों तक ही सीमित है किन्तु प्रभाव में यह मन्त्र की तरह भव-रोग निवारण की अचूक औषधि है। भाषा और भाव दोनों ही दृष्टियों से सन्त कवि की कृति ‘रामजन्म’ प्रचार-प्रसार की अपेक्षा रखती है। सन्त कवि ने राम-काव्य की पीठिका (रामजन्म के रूप में) प्रस्तुत कर राम-काव्य के कवियों में अपना स्थान सदा के लिए सुरक्षित कर लिया है।

सन्त सूरजदास ने अपनी रचना में अपने परवर्ती तुलसीदासजी की तरह भक्ति के तत्त्वों का

निरूपण नहीं किया है, किन्तु निहितार्थ भक्ति ही है, चूँकि तुलसी के राम की तरह संतजी के राम भी परब्रह्म के ही अवतार हैं, यथा-

पार ब्रह्म जो लीन्ह अवतारा।

दसरथ ग्रिहि श्रीराम कुमारा

चारि अंस लीन्ह अवतारा।

सेस सहस्र फनी मनियारा।

गंगावतरण हेतु राजा भगीरथ-

वन महँ जा चरे त्रिप ध्याना

अहिनिसि जपहीं स्त्री भगवाना।

प्रभु-नाम जप नवधा भक्तियों में एक है। इस प्रकार ‘रामजन्म’ काव्य का निहितार्थ ईश्वर-भक्ति ही है। सन्तजी के काव्य में अन्य देवी देवताओं के साथ विष्णु-वाहन पक्षिराज गरुड के साथ-साथ ब्रह्म, शिव भी उपस्थित हैं। राम सबके आराध्य हैं। अलौकिक व दार्शनिक तत्त्वों से रहित यह काव्य अभिधा कथन में आज की सहज कविता का सटीक उदाहरण है। काव्य प्रथमतः अभिधा कथन ही है और अभिधा कथन काव्यात्मकता-रहित कदापि नहीं होता। वाणी के वरद पुत्र, रामकथा के अमर गायक सन्तजी की पुण्य स्मृति को इस अकिंचन का सादर नमन।

विनीत,

युगल किशोर प्रसाद, साहित्यकार
ग्राम+पो.- मुरगावाँ, नालन्दा (बिहार)

सम्पर्क- न्यू विग्रहपुर, बिहारी पथ,

पटना-1



जगद्गुरु रामानन्दाचार्य के पद

ताथैं न कछु रे संसार। हमारै रामको नांऊ अधारा॥टेक॥

गुड़ का चीटा गुड़ खाई। गुड़ माहि रह्यौ उरझाई॥

गुड़रती एक मीठा होई। पीछैं दुख पावै सोई॥1॥

सुपनंतर राजा होईये। नांनां बिधि के सुष जोईये॥

ऐसे सुष क्यूं सुष होई। जागूं तौ झूठा सोई॥2॥

मैं मेरी ग्यान नसावे। ताथैं आतमा समाधि न पावै॥

रामानंद गुरगंमि गावै। ताथैं भिनि भिनि समझावै॥3॥1॥

रामानंद की हिंदी रचनाएँ, संपादक: स्व. डा. पीतांबर दत्त बड़थवाल, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

‘रामायण’ में ‘सुन्दरकाण्ड’ का महत्त्व

▣ डॉ. शिववंश पाण्डेय

‘रामायण’ सात काण्डों में विभक्त है- बालकाण्ड, अयोध्याकाण्ड, अरण्यकाण्ड, किष्किन्धाकाण्ड, सुन्दरकाण्ड, लंकाकाण्ड और उत्तरकाण्ड। इनमें बालकाण्ड, सुन्दरकाण्ड और उत्तरकाण्ड को छोड़कर शेष पाँच खण्डों (काण्डों) के नाम स्थान विशेष के नाम से सम्बंधित हैं। ‘बालकाण्ड’ में भगवान राम की बाललीला तथा ‘उत्तरकाण्ड’ में ‘रामायण’ की उत्तरकथा वर्णित है, किन्तु ‘सुन्दरकाण्ड’ का नाम न तो स्थानपरक है और न घटना विशेष से सम्बंधित है तो आखिर इसका नाम ‘सुन्दरकाण्ड’ रखने के पीछे आदिकवि वाल्मीकि का क्या

लक्ष्य रहा होगा, यह रहस्य का विषय है।

‘रामायण’ के सातों काण्डों में ‘सुन्दरकाण्ड’ को विशेष महत्त्व प्राप्त है। इसलिए विभिन्न कामनाओं की पूर्ति हेतु, सुन्दरकाण्ड के पाठ का अनुष्ठान वैष्णव सम्प्रदाय के भक्तों द्वारा घर-घर में या मन्दिरों में किया जाता रहा है। “नष्ट द्रव्य की प्राप्ति के लिए, विजय की उपलब्धि के लिए, मंगल लाभ के लिए, भगवद्भक्ति भाव की वृद्धि के लिए, भगवान् श्रीरामजी के दर्शन के लिए, श्रीहनुमान्जी की प्रसन्नता की प्राप्ति के

लिए, समस्त सुन्दर मनोरम फल थी प्राप्ति के लिए सुन्दरकाण्ड पाठात्मक अनुष्ठान की प्राचीन परम्परा रही है। गृहस्थों के लिए पूर्वजों के श्राद्ध में तथा मांगलिक कार्यों तथा यज्ञानुष्ठान में सुन्दरकाण्ड का पारायण अथवा पाठ करना शुभ फलदायक है जैसा कि ‘बृहद्धर्मपुराण’ में कहा गया है।

श्राद्धेषु देवकार्येषु पठेत् सुन्दरकाण्डकम्।

पूर्वखण्ड 26/11

यद्यपि सुन्दरकाण्ड का पारायण किसी भी महीने में किया जा सकता है तथापि चैत्र, माघ अथवा कार्तिक मास में रामायण-पाठ का विधान होने से सुन्दरकाण्ड

के पारायण के लिए शुभ माने गए हैं। बृहद्धर्मपुराण के अनुसार सुन्दरकाण्ड का पाठ ज्येष्ठ के महीने में करना श्रेयस्कर होता है- **ज्येष्ठे तु सुन्दरं काण्डम्**”

इस महत्त्वपूर्ण काण्ड का नाम महर्षि वाल्मीकि ने ‘सुन्दरकाण्ड’ क्यों रखा इस सम्बन्ध में विद्वानों के विभिन्न मतों पर विचार करते हुए राष्ट्रपति सम्मानित विद्वान् पं. मोहनलाल शर्मा पाण्डेय ने ‘सुन्दर’ शब्द की व्युत्पत्तिगत व्याख्या इस प्रकार की है- नष्ट द्रव्य (अपहृत वस्तु) का

आदिकवि वाल्मीकि ने ‘रामायण’ में हनुमान् द्वारा जानकी के अन्वेषण से सम्बद्ध प्रसंग को ‘सुन्दरकाण्ड’ का नाम क्यों दिया इस पर अनेक प्रकार से विवेचन प्राप्त होते हैं। यह सुन्दरकाण्ड सनातन धर्म में इतना ख्यात है कि शाक्त सम्प्रदाय में भी, शास्त्रीय नवरात्र में इसका सादर वाचन होता है इस सुन्दरकाण्ड के महत्त्व पर प्रस्तुत है यह आलेख।

पता लगाना और उसे प्राप्त करना ही 'सुन्दर' कहा जाता है- "नष्ट द्रव्यस्य लाभो हि सुन्दरं परिकीर्तितः।" किष्किंधा पहुँचते ही श्रीराम को यह तो ज्ञात हो चुका था कि सीता को रावण अपहरण कर ले गया है। पर कहाँ और किस अवस्था में रखा है, इसकी जानकारी श्रीराम को सुन्दरकाण्ड में ही होती है।

व्याकरण के अनुसार 'सुन्दर' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार बतायी गई है- सु+द्रियते 'दृङ् आदरे' (तु, आ, अनिट्) ग्रहबृह (3-3-58) इत्यप्। पृषोदारदि (6-3-109) अर्थात् जिनका समादर किया जाता है वहीं 'सुन्दर' कहलाता है। इस काण्ड में हनुमान्जी का सम्पूर्ण व्यक्तित्व-वर्चस्व प्रदर्शित करते हुए उनके प्रति आदर-भाव प्रदर्शित किया गया है। इस दृष्टि से भी इस काण्ड का 'सुन्दरकाण्ड' नाम प्रसंगोचित है।

कुछ विद्वान् 'सुन्दर' शब्द की निरुक्ति 'उन्दी क्लेदने' धातु से करते हैं- "सु+उनत्ति" चित्तं द्रवी करोति। बाहुलकादप् शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम् (वा. 6-1-94) अर्थात् जो घटना पाठकों एवं भक्तों के चित्त को अधिक प्रभावकारी रूप से द्रवित करे वही 'सुन्दर' की संज्ञा प्राप्त करता है। श्री वाल्मीकि ने इस काण्ड के समस्त अड़सठ सर्गों में केवल पवनसुत श्रीहनुमान् की ही चर्चा की है जो पाठकों एवं भक्तों के चित्त को आद्यन्त बाँधे रहता है। इस दृष्टि से भी इस काण्ड का 'सुन्दर' नाम औचित्यपूर्ण और अर्थबोधक प्रतीत होता है।

'गोस्वामी श्री कपिलदेव गिरि ने सुन्दरकाण्ड के सम्पादन की भूमिका में नानार्थक कोशों के आधार पर सुन्दर का पर्यायवाची 'वानर' अर्थ का संकेत दिया है, इसका अन्वेषण अपेक्षित है। सम्पूर्ण काण्ड में वानर हनुमान् द्वारा किए गए अलौकिक कार्यों के आधार पर ही यह प्रकरण सुन्दरकाण्ड के नाम से महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है-

सुन्दरं सुन्दरं दृश्यं सुन्दरे सुन्दरी कथा।
सुन्दरे सुन्दरी सीता सुन्दरे किन्न सुन्दरम्॥

अधिकांश विद्वानों की मान्यता है कि श्रीरामचन्द्र के जीवन की सुन्दरतम घटनाओं को 'सुन्दर' अभिधान प्राप्त होने का गौरव प्राप्त हुआ है। श्रीरामचन्द्र के जीवन से सम्बंधित वर्णित घटनाओं में अनेक घटनाएँ अतिमानुष हैं यथा शतयोजन समुद्र का लंघन और उसपर सेतु का निर्माण, अभेद्य हाटकपुरी में प्रवेश, माँ सीता का अन्वेषण, सीता-हनुमान्, सीता-रावण के सम्भाषण, लंकाधिपति रावण को निर्भीकता पूर्वक स्वामी श्रीरामचन्द्र का संदेश देना, लंकादहन, अशोक वाटिका विध्वंस, रावण पुत्र अक्षय कुमार एवं अनेकानेक राक्षस रणबाँकुरों का वध, ब्रह्मास्त्र के प्रति सम्मान प्रदर्शन, समुद्र का दर्पदलन, उत्तर में बसे अधम जनों का विनाश, शत्रुपक्ष के समर्थकों एवं सेवकों द्वारा प्रभु राम के चरित्र की प्रशंसा, शरणागतों पर प्रभु की असीम कृपा आदि। ये सब कार्य ऐसे हैं जो सामान्य जन द्वारा कदापि सम्पन्न नहीं किए जा सकते। असाधारण पराक्रम के साथ असाधारण विनम्रता, क्षमाशीलता और अनुग्रह का प्रदर्शन जैसा इस काण्ड में वर्णित है उनसे भी इसके 'सुन्दर' अभिधान का प्रमाण-पोषण होता है।

समग्र रूप में इसका समाकलन किया जाय तो यही कहा जा सकता है कि जिस महाकाव्य (रामायण) में मानव एवं मानवेतर यथा वानर, ऋक्ष, पशु-पक्षी एवं राक्षस संस्कृतियों का सम्मेलन अति सुन्दर विधि से दिखलाया गया है उसका उत्कर्ष हम 'सुन्दरकाण्ड' में पाते हैं इस प्रकार यह कारण उसके 'सुन्दर' रूप को व्यंजित एवं प्रमाणपुष्ट करने के लिए यथेष्ट है।

लीलाधाम, 3/307 न्यू पाटलिपुत्र
कॉलोनी, पटना-800013



‘मानस’ में वर्णित शाप तथा उनकी दिशाएँ

▣ डॉ. श्रीकांत सिंह

गोस्वामी तुलसीदास द्वारा विरचित कालान्तर में वह शाप सर्वथा भयावह एवं अनिष्टकर ‘रामचरितमानस’ में शाप के अनेक प्रसंग वर्णित हैं। सिद्ध होता है। ‘मानस’ में इस कोटि के तीन शाप उनकी अवधारणात्मक परिकल्पनाएँ भी अपनी प्रकृति में पृथक्-पृथक् हैं। किन्तु, परिणाम की दृष्टि से उनके फलाफल कुछ विशिष्ट दिशाओं की ओर संकेत करते हैं। इनके वर्गीकृत रूप निम्नांकित हैं—

(क) शाप जो सर्वथा भयावह एवं अनिष्टकर सिद्ध हुए— इस कोटि के शाप प्रदाता शाप के ग्रहीता को अनेक दुर्वचन कहते हुए उसके बददुआ की कामना करते हैं, अपने मुख से अहितकामना सूचक शब्द निःसृत करते हैं। कभी-कभी प्रदाता वाचिक रूप से अनिष्ट-कामना न करके कायिक अभिव्यक्ति के द्वारा ग्रहीता का अमंगल साधता है। असमर्थ पात्र तो

मानसिक रूप से ही आलंबन के अपकार के प्रति कुभावना व्यक्त करता है। जब प्रदाता अत्यंत खिन्न, विशुब्ध एवं क्रुद्ध होकर मनसा-वचसा- कर्मणा ग्रहीता के अनिष्ट की घोषणा करता है तो तत्काल या

शाप ‘ब्राह्म तेज से सम्पन्न ईश्वर अथवा ऋषियों-मुनियों द्वारा किसी के अपराध के लिए दिया गया दण्ड है। भारतीय संस्कृति की यह विशेषता रही है कि इसके अनेक प्रसिद्ध ‘शाप’ दूरगामी प्रभाव से अन्ततः जगत् का कल्याण ही करते हैं। ये शाप भी- किसी न किसी मंगलमय उद्देश्य से ही दिये गये हैं। इन शाप कथाओं को अपनी रचना में गुम्फित करने वाले कवि ने इन्हें किस रूप में प्रस्तुत किया है इससे शाप की दशा और दिशा निर्धारित होती रही है। कालिदास ने ‘अभिज्ञानशाकुन्तलम्’ में दुर्वासा के शाप की योजना कर नायक दुष्यन्त की धीरोदात्तता पर लगे प्रश्नचिह्न को ही समाप्त कर डाला।

‘मानस’ में भी तुलसीदास ने अनेक शाप कथाओं का उल्लेख या संकेत किया है। इनकी दशा और दिशा पर विवेचन यहाँ प्रस्तुत है। सं.

प्राप्त होते हैं। इस कोटि में प्रथम शाप की प्रदात्री सती हैं और भोक्ता, शिव की निंदा करने एवं सुननेवालों के साथ-साथ स्वयं प्रजापति दक्ष हैं। द्वितीय शाप के प्रदाता श्रवण कुमार के पिता एवं भोक्ता दशरथ हैं। ध्यातव्य है कि पति के परित्याग से संतप्ता सती दुःखमय जीवन जी रही थीं। उससे किंचित् मुक्ति एवं राहत के लिए वह पिता के यज्ञ में अनाहूत होने के बावजूद जाती हैं। लेकिन, उनको राहत एवं मान की जगह वहाँ अपमान प्राप्त होता है और यज्ञ में शंकर का घोर अपमान भी दृष्टिगत होता है। सती को

पति-गृह से लेकर पितृ-गृह तक घोर दुःखावह जीवन का सामना करना पड़ता है। पति-गृह में वह निजी अपराध के कारण दुःख का वरण करती हैं। महिलाएँ जब ससुराल से निराश हो जाती हैं तो वह मायके की

आशा रखती हैं। लेकिन, सती को पिता से आशा या स्नेह के दो शब्द मिलना तो दूर, अपमान ओर ग्लानि प्राप्त होती है। पति के घर में प्राप्त अपमान का वेत्ता अथवा द्रष्टा कोई दूसरा नहीं था। वह व्यक्तिगत स्तर पर ही अपमानजन्य दुःख झेल रही थी। पति-परित्याग के अतिरिक्त उनको अन्य तरह का क्लेश भी नहीं था। लेकिन, पितृ-गृह में उनका अपमान पिता के द्वारा ही सार्वजनिक रूप से होता है। यहाँ तक कि उस अभिमानी पिता ने शिव के अपमानार्थ ही यज्ञ का आयोजन किया था। सती एवं शंकर के अपमान में सती की माता को छोड़कर उनकी बहनें भी सहायिका होती हैं और उस यज्ञ में उपस्थित लगभग सभी सहभागी भी। इस प्रकार टूटन, कुण्ठा, भग्नाशा, अपमान, दुःख एवं व्यंग्यादि से जर्जर शरीर को समाप्त कर देना ही सती ने श्रेयस्कर समझा। चूँकि, सती वहाँ लाचारी की स्थिति में थी, असमर्थ थी, पुनः पति के घर जाने लायक भी नहीं रह गयी थी। अतएव, अभिमानी पिता के अनिष्ट की कामना करते हुए तथा शंकर के निंदकों एवं श्रवकों को भी शाप प्रदान करते हुए सती ने योगाग्नि में अपना शरीर भस्म कर दिया। यहाँ शाप प्रदात्री स्वयं अपने हाथों घोर अनिष्ट अर्थात् मृत्यु को प्राप्त होती है। अतः यह शाप प्रदाता के लिए भी सर्वथा भयावह एवं अनिष्टकर सिद्ध हुआ। दूसरी तरफ ग्रहीता के लिए भी यह शाप सर्वथा भयावह एवं अनिष्टकर साबित होता है। उसके यज्ञ का विध्वंस होता है, उसका धड़ से सर अलग होता है पुनः वह बकरे का सिर धारण करता है। किसी की आँखें फूटीं, तो किसी के दाँत टूटे और कोई यज्ञाग्नि की भेंट ही चढ़ गया। इस प्रकार प्रदाता और ग्रहीता-दोनों का विनाश होता है। सती-प्रकरण का यह अभिशाप-प्रसंग कारण-कार्य भाव से सर्वथा भयावह और अनिष्टकर है। इसमें विच्छेद, विध्वंस और आत्मदाह की घटना के साथ-साथ आक्रोश और संघर्ष के व्यापक परिणाम सामने आए हैं।

‘मानस’ में इसी कोटि का दूसरा प्रसंग शंकर एवं कामदेव से सम्बद्ध है। शिव के क्रुद्ध एवं प्रलयकारी स्वभाव तथा उनकी तृतीय नेत्राग्नि का प्रभाव जानकर भी कामदेव आक्रोशित होकर उनके हृदय में तीक्ष्ण शर-संधान करता है जिसका कुफल यह होता है कि वह तत्काल शंकर के तृतीय नेत्र के उन्मीलित होते ही वहाँ भस्मीभूत हो जाता है। यहाँ प्रदाता शंकर ने कामदेव को वाचिक रूप से नहीं बल्कि कायिक रूप से दण्डित किया है। ग्रहीता कामदेव ने दूर से तीर चलाकर शंकर को विक्षुब्ध किया तो शंकर ने भी तदनुकूल दूर से ही अपने तृतीय नेत्र की अग्नि को प्रज्वलित कर उसको भस्मीभूत कर दिया। इस प्रकार शंकर के मनसा एवं कर्मणा शाप से कामदेव का दहन हो जाता है। अतएव यह शाप भी सर्वथा भयावह एवं अनिष्टकर सिद्ध होता है।

‘मानस’ में इसी कोटि का तीसरा और अंतिम शाप श्रवण कुमार के पिता एवं दशरथ से सम्बद्ध है। दशरथ के बाणों से श्रवण कुमार की मृत्यु होती है और दशरथ द्वारा उसकी मृत्यु की खबर सुनकर उसके अंधे माता-पिता अतिशय विकल-विक्षुब्ध होते हैं। पुनः वे अंधे तपस्वी दशरथ को भी इसी नियति को प्राप्त होने का घोर शाप देते हुए स्वयं मृत्यु को प्राप्त करते हैं। यहाँ प्रदाता पुत्र-वियोगाग्नि में तड़प-तड़पकर मृत्यु को प्राप्त होता है और वह ग्रहीता को भी इसी अवस्था में पहुँचने की अनिष्ट-कामना करता है। कालान्तर में दशरथ की मृत्यु भी इसी शाप के कारण होती है। अस्तु, शाप का यह प्रकरण भी अत्यंत भयावह एवं अनिष्टकर है। इस प्रकार इस कोटि के तीनों शाप ग्रहीता की मृत्यु के निमित्त बनते हैं। इस कारण के दो प्रदाता तो स्वयं भी मृत्यु का वरण करते हैं और तीसरे की समाधि भंग होती है जो तारकासुर की मृत्यु का कारण बनती है। अतएव, हर प्रकार से ये शाप सर्वथा भयावह एवं अनिष्टकर हैं। इस प्रकार इस कोटि में कुल तीन शाप आते हैं-

- क) सती द्वारा दक्षादि को प्रदत्त शाप
 ख) शंकर द्वारा कामदेव को प्रदत्त शाप
 ग) अंधे तपस्वी द्वारा दशरथ को प्रदत्त शाप

ख) शाप जो शिवाशिव सिद्ध हुए-

इस वर्ग में शाप के वे प्रसंग हैं जो प्रथम-दृष्ट्या तो अकल्याणकर सिद्ध हुए, किन्तु उनके दूरगामी परिणाम कल्याणकर साबित हुए। ऐसे प्रसंगों के भी दो वर्ग हैं। प्रथम वर्ग में वैसे प्रसंग हैं जिनका विस्तृत वर्णन हुआ है और दूसरे प्रसंग में शाप की सूचना या संकेत मात्र है। सन्दर्भानुसार गोस्वामी तुलसीदास ने शाप की चर्चा मात्र की है और उनका उत्स पुराणादि ग्रन्थों में अनुस्यूत है। आगे शिवाशिव शापों के फलाफल का क्रमवार विवेचन किया जा रहा है-

‘मानस’ में इस कोटि का पहला शाप सनकादि एवं जय-विजय से सम्बद्ध है। सनकादि से शापित होकर जय-विजय तीन जन्मों के लिए असुर का तामसी शरीर धारण करते हैं। विष्णु के द्वारपाल-पद से च्युत होकर वे राक्षस की योनि को प्राप्त होते हैं। यह उनके जीवन का अशिव पक्ष है जो उनको सनकादि के शाप से प्राप्त हुआ है। लेकिन, पुनः उनके शाप-शमन के लिए विष्णु का रामावतार होता है और वे दोनों भाई उनके हाथों देहान्तर को प्राप्त होते हैं और अपने पूर्वपद को भी। उनके साथ-साथ अन्यो का भी कल्याण होता है और भगवान् विष्णु का पवित्र लीला-विस्तार होता है। अतः यह शाप शिवाशिव कोटि का है।

रामावतार हेतु प्रकरण में कतिपय अन्य शापों की भी चर्चा है जो शिवाशिव-कोटिक हैं। वृन्दा, नारद एवं ब्राह्मणों द्वारा क्रमशः विष्णु, शिवगण-विष्णु तथा भानुप्रताप आदि को प्रदत्त शाप भी शिवाशिव सिद्ध होते हैं। वृन्दा के शाप के कारण विष्णु नर-तन धारण करते हैं, अनेक कष्टों का सहन करते हैं, जलंधर रूप रावण द्वारा उनकी पत्नी का हरण होता है। यह ग्रहीता के लिए अत्यंत अकल्याणकारी है।

लेकिन, उसी शाप के कारण वृन्दा का पातिव्रत्य प्रसिद्धि पाता है, उसके पति का उद्धार होने के साथ ही अन्यो का भी उद्धार होता है। अतः इस शाप के भी दोनों पक्ष हैं- कल्याणपरक, अकल्याणपरक।

देवर्षि नारद ने भी लगभग वृन्दा की तरह ही विष्णु को शाप प्रदान किया है, साथ ही उनपर व्यंग्य करनेवाले शिवगण भी उनके शाप का शिकार हो राक्षस-योनि को प्राप्त होते हैं। विष्णु और शिवगणों के लिए शाप का यह अशिव पक्ष है। लेकिन, इसी शाप के कारण रामावतार होता है और रावणादि का उद्धार यह उस शाप का शिव-पक्ष है। उपर्युक्त पात्रों को शाप प्रदान करनेवाले नारद स्वयं भी दक्ष प्रजापति के शाप से शापित हैं और उसी के कारण निरंतर भिक्षुकों की तरह भ्रमित होते रहते हैं। यह उनके लिए अकल्याणकारी है। लेकिन, इसी कारण, वे दूसरों की खैर-खबर लेते रहते हैं, नारायण की रट लगाते रहते हैं, यह इस शाप का शिव पक्ष है।

‘मानस’ के आगे की कथा में कतिपय ऐसे पात्रों की चर्चा है जो मुनियों के शाप से राक्षस एवं महामायाविनी ‘मगरी’ का रूप धारण करते हैं। लेकिन, कालान्तर में प्रभु श्रीराम के हाथों एवं राम भक्त हनुमान् के चरणों उनका उद्धार होता है- और वे पूर्वरूप को प्राप्त करते हैं। समर्थ मुनि शुक्राचार्य, दुर्वासा, अगस्त्य एवं किसी अज्ञातमुनि के द्वारा क्रमशः राजा दंड, नर्तक, गन्धर्व, वेदज्ञ ब्राह्मण, रति को अनंगीकार करनेवाले अप्सरा शापित होकर अपने स्थान से स्थलित होते हैं, अनिष्टकारी बनते हैं, अशिवता को प्राप्त होते हैं। लेकिन, कालान्तर में सबका उद्धार होता है और वे राम तथा रामभक्त हनुमान् के द्वारा शिवरूप का वरण करते हैं। इसी तरह मतंग द्वारा बाली को दिया गया शाप भी इसी कोटि का है। मतंग का शाप जहाँ बाली की जान को जोखिम में डालनेवाला है, बिलकुल अकल्याणकारी है। उसी शाप के बल पर सुग्रीव की जान बच रही है। अतः यह शाप सुग्रीव के लिए शुभसूचक और

कल्याणप्रद हो जाता है। अस्तु, उपर्युक्त जितने शापों को चर्चा इस खण्ड में की गयी है वे सभी शिवाशिव कोटि के हैं जो मंगलामंगल का विधान करते हैं। इस प्रकार इस कोटि में कुल दस शाप हैं-

- i) सनकादि द्वारा जय-विजय को प्रदत्त शाप
- ii) जलंधर पत्नी वृन्दा द्वारा विष्णु को प्रदत्त शाप
- iii) नारद द्वारा विष्णु एवं शिवगणों को प्रदत्त शाप
- iv) दक्ष प्रजापति द्वारा नारद को प्रदत्त शाप
- v) ब्राह्मणों द्वारा भानुप्रताप आदि को प्रदत्त शाप
- vi) शुक्राचार्य द्वारा राजा दंड को प्रदत्त शाप
- vii) दुर्वासा द्वारा कबंध को प्रदत्त शाप
- viii) मतंग द्वारा वाली को प्रदत्त शाप
- ix) अगस्त्य द्वारा शुक्र को प्रदत्त शाप
- x) अज्ञात मुनि द्वारा अप्सरा को प्रदत्त शाप

(ग) शाप जो मंगलमय वरदान बन गए-

इस वर्ग में शाप के वैसे प्रसंग हैं जो प्रथमतः अत्यंत दारुण रूप से दृष्टिगत होते हैं लेकिन अन्ततः उनकी परिणति महामांगलिकता में होती है। शाप-प्रदाता क्रोधावेश में कामना करता है। भोक्ता उस नियति को प्राप्त होने की अनिष्ट कामना करता है। भोक्ता उस नियति को प्राप्त भी होता है। तत्समय शापित पात्र की आर्त्तता पर आर्द्र होकर शापप्रदायक दूरगामी रूप में सम्बद्ध वर्ग के शाप मंगलमय वरदान बन जाते हैं। 'मानस' में इस वर्ग के सभी शापित पात्र अपने शाप को मंगलमय मानते हैं तथा शाप-प्रदाता के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं। उन्हें मालूम है कि मंगलमय स्थिति के समुपस्थित होने में पूर्व शाप का ही योगदान है। वे अपने को खरा रूप में पाते हैं। जैसे सोना अग्नि में जलने के पश्चात् कुन्दन बन जाता है उसी प्रकार प्रचंड शापाग्नि से मंडित होते ही तत्सम्बद्ध पात्र का शाप-शोधन एवं कल्मष-परिष्कार हो जाता है और वह दिव्य रूप धारण कर शिव-स्वरूप हो जाता है।

'रामचरितमानस' में इस कोटि का पहला प्रसंग महर्षि गौतम, उनकी भार्या अहल्या एवं इन्द्र से

सम्बद्ध है तथा दूसरा और अंतिम प्रसंग भगवान् शंकर, महर्षि लोमश एवं काकभुशुण्डि से। राम के द्वारा शाप मुक्त होने के पश्चात् अहल्या पति-प्रदत्त शाप को 'परम अनुग्रह' के रूप में स्वीकार करती हैं- "मुनि साप जो दीन्हा अतिभल कीन्हा परम अनुग्रह मैं माना।"¹ इन्द्र राम के दूल्हा रूप के सौन्दर्य को हजार नेत्रों से देखते हैं और गौतम प्रदत्त शाप को 'परम हित' मान रहे हैं- "रामहि चितन सुरेस सुजाना। गौतम श्रापु परम हित माना।"² गौतम से शाप स्वरूप प्राप्त 'सहस्र भग' इन्द्र के लिए 'सुभाग' सिद्ध हो जाता है। यही स्थिति काकभुशुण्डि की भी है। वे भी अत्यंत कृतज्ञ भाव से शाप-प्रदाता के अनुगृहीत होते हुए कहते हैं- "मुनि दुर्लभ बर पायउँ देखहु भजन प्रताप।"³ शिव-शाप के समय गुरु का कहा हुआ- "एहि कर होइ परम कल्याणा। सोइ करहु अब कृपानिधाना।"⁴ वचन लोमश-शापानुग्रह के पश्चात् मंगलमय वरदान बन जाता है और काक भुशुण्डि अपने प्रदाता के प्रति आभार प्रदर्शित करते हैं

अस्तु, प्रस्तुत प्रकरण के तीनों ग्रहीता अपने शाप-प्रदाता एवं उनके शाप को क्रमशः 'परम अनुग्रह', 'परमहित', 'परम कल्याण' एवं 'मुनि दुर्लभ वरदान' के रूप में स्वीकार कर रहे हैं और धन्यता का अनुभव भी कर रहे हैं। अतएव, यहाँ उनके शाप मंगलमय वरदान की कोटि में हैं। इस प्रकार इस कोटि में कुल तीन शाप हुए-

- i) गौतम द्वारा अहल्या एवं इन्द्र को प्रदत्त शाप
- ii) शिव द्वारा काकभुशुण्डि को प्रदत्त शाप
- iii) लोमश द्वारा काकभुशुण्डि को प्रदत्त शाप

(घ) शाप के वरदान में परिणत होने की प्रक्रिया एवं प्रविधि-

'रामचरितमानस' मंगल काव्य है। तुलसीदास 'वन्दे वाणी विनायकौ' कहकर वाणी की विविधि गतियों का उद्घाटन करते हैं। अन्तःकरण की सारी बातें वाणी के द्वारा ही अभिव्यक्ति पाती हैं। वाणी के

कुछ ऐसे स्वरूप हैं जो मनुष्य के सम्पूर्ण व्यक्तित्व की शक्ति को एक केन्द्र में प्रस्थापित करके किसी का अनिष्ट या मंगल कर सकते हैं। वणी की तरह जीवन में इच्छाओं की भी अनन्त गतियाँ होती हैं जिनसे भावों के दुःख-सुखात्मक प्रसंग क्रमशः शाप और वरदान की भाषा में अभिव्यक्ति पाते हैं।

शाप और वरदान दोनों इच्छाशक्ति की वाचिक अभिव्यक्तियाँ हैं। ये परस्पर प्रतिगामी अर्थ के वाचक हैं। शाप क्रोध का ही एक क्रियार्थक रूप है। एक तरफ यह असमर्थ पात्र के मुख से 'आह' के रूप में निकलता है तो दूसरी तरफ यह समर्थ पात्र की आत्मशक्ति का प्रसाद है जिसमें अनिष्ट करने के साथ अनिष्ट के सुधारने की भी क्षमता है। समर्थ लोग शाप के द्वारा दिव्य अद्भुत तत्त्वों का प्रकाशन करते हैं। दिव्य तत्त्व वे हैं जिनका आविर्भाव और तिरोभाव अकस्मात् कराया जा सकता है। ये अवास्तविक होकर भी वास्तविक रूप में प्रकट होते हैं। इसमें प्रयोक्ता का ऐश्वर्य-तत्त्व निहित होता है। यह तत्त्व देवों में और देवशक्तियों में दर्शाया जाता है। साधना के बल पर ऋषियों और योगियों में भी दिव्य तत्त्वों के उत्पन्न करने की क्षमता होती है। ये दिव्य तत्त्व अष्ट-सिद्धियों के नाम से तंत्र-विद्या के भी अंग कहे गए हैं।

बहरहाल, जब हम शाप के उत्पादन के कारणों पर विचार करते हैं तो ग्रहीता की गलती और प्रदाता का कोप दृष्टिगोचर होता है। किसी पात्र के कुकृत्यों से क्षुब्ध होकर समर्थ व्यक्ति दण्डस्वरूप तत्सम्बद्ध पात्र को शाप देता है। कभी-कभी प्रदाता अपनी गलती एवं गलतफहमी के कारण भी किसी निरपराध को शापित कर डालता है। शापित व्यक्ति आर्त होकर ज्योंही त्राहि-त्राहि करता है, प्रदाता का शरण्य बनता है त्योंही 'वज्रादपि कठोराणि' शाप 'मृदूनि कुसुमादपि' का मंगलमय रूप धारण कर लेता है। कभी वह शाप अनिवार्य होता है, कभी दुर्निवार, तो कभी वरदान साबित होता है।

'मानस' में अधिकतर शाप-प्रदाता समर्थ व्यक्ति (मुनि, ऋषि) हैं। 'कोप' और 'कृपा' उनके 'दाहिने-बायें' चलते नजर आते हैं। अतः ज्योंही शापित पात्र निष्कलुष भाव से 'कृपण' बन अपराध-क्षमापन की गुहार लगाता है, वह शाप-प्रदाता के द्वारा कृतार्थ कर दिया जाता है। यही शाप को वरदान में परिणत होने की प्रक्रिया एवं प्रविधि है।

गौतम ऋषि के द्वारा अहल्या एवं इन्द्र को क्रमशः पत्थर एवं विरूप होने का शाप, शिव के द्वारा शूद्र ब्राह्मण को चांडाल पक्षी (काकः पक्षिषु चण्डालः) होने का शाप निश्चय ही अत्यंत भयानक है। लेकिन, उपर्युक्त सभी शाप कालान्तर में मंगलमय वरदान बन जाते हैं और शाप-ग्रहीता 'परम अनुग्रह' 'परम हित' और 'मुनिदुर्लभ वर' के रूप में उस शाप की महामांगलिकता का बखान करते हैं।

सन्दर्भ-संकेत

1. मा. 1.211.9
2. मा. 1.317.6
3. मा. 7.114 (ख)
4. मा. 1.109.1

वरीय प्राध्यापक
स्नातकोत्तर हिन्दी-विभाग
कॉलेज ऑफ कॉमर्स
पटना-20



रामचरितमानस में नगर-वर्णन

-डॉ. राजेश्वर प्रसाद

गोस्वामी तुलसीदास के 'मानस' में जनकपुर, अयोध्या, किष्किन्धा एवं लंका इन चार नगरों का वर्णन हुआ है। इन वर्णनों की तुलना करने पर हमें स्पष्ट हो जाता है कि अयोध्या का वर्णन 'आँखों देखा हाल' है। न तो इसमें काव्य सुलभ अतिरंजन है न ही कोई विषय छूटा है। सरयू के किनारे मन्दिरों की पंक्ति, घर-घर में श्रीराम के चित्र का उल्लेख, वापी, कूप, तडाग, चौराहा यह सब कवि की देखी हुई वस्तु है।

विश्वकवि तुलसीदास का रामचरितमानस हिन्दी साहित्य का सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य है। साहित्य दर्पण में आचार्य विश्वनाथ ने महाकाव्य के लक्षण इस प्रकार दिए हैं-

सर्गबन्धो महाकाव्यः तत्रैको नायकः सुरः।
सद्वंशो क्षत्रियो वापि धीरोदात्तगुणान्वितः॥
इतिहासोद्भवं वृत्तमन्यद्वा सज्जनाश्रम।
चत्वारः तस्य वर्गा स्युः तैष्वेकं च फलं भवेत्॥
शृंगारवीरशांतानामेकोऽङ्गी रस इष्यते॥
अंगानि सर्वेऽपि रसाः सर्वे नाटकसंधयः॥
एकवृत्तमथैः पद्यैरवसानेऽन्यवृत्तकैः।
नातिस्वल्पा नातिदीर्घाः सर्गा अष्टाधिका इह॥^१

अर्थात् महाकाव्य को सर्गबद्ध होना चाहिए। उसका नायक को देवता या धीरोदात्त गुण से युक्त कोई क्षत्रिय होना चाहिए। उसका कथानक इतिहास सम्मत या किसी सज्जन से सम्बद्ध होना चाहिए। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये मानव जीवन के चार पुरुषार्थ हैं। इनमें से कोई एक महाकाव्य का फल (उद्देश्य) होना चाहिए। महाकाव्य का अंगीरस शृंगार, वीर या शांत रस होना चाहिए। किन्तु अंगरूप में सभी रसों का नियोजन अवश्य होना चाहिए। एक सर्ग में

प्रायः एक ही छंद का प्रयोग होना चाहिए तथा सर्गान्त में अन्य छंद आना चाहिए। महाकाव्य में आठ या अधिक सर्ग होना चाहिए। ये सर्ग न तो बहुत छोटे हों, न बहुत बड़े हों। रामचरितमानस इन लक्षणों से पूर्णतः सम्पन्न है। स्वयं इस ग्रंथ में भी एतद्विषयक संकेत उपलब्ध हैं। यथा-

सप्त प्रबंध सुभग सोपाना।
ग्यान नयन निरखत मनमाना।
रघुपति महिमा अगुन अबाधा।
(बरनव सोइ बर बारि अगाधा)॥
अरथ धरम कामादिक चारी।
कहब ग्यान बिग्यान बिचारी॥^२

कुछ समीक्षक 'सप्त प्रबंध सुभग सोपान' के आधार पर रामचरितमानस को महाकाव्य नहीं मानते। उनका कहना है कि 'साहित्य दर्पण' में 'सर्गा अष्टाधिका इह' कहा गया। ध्यातव्य है कि 'सप्त प्रबंध सुभग सोपाना' मानस के सर्गों का सूचक नहीं है, प्रत्युत् यह केवल रूपक निर्वाह के लिए है। इस सम्बन्ध में आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का कथन अवलोकनीय है- "जो मानस को महाकाव्य पद्धति का ग्रन्थ 'सप्त प्रबंध सुभग सोपाना' से सोपान ही सर्ग

समझकर नहीं मानते, वे भ्रम में हैं। ऐसे ही भ्रम के निवारणार्थ कर्ता (तुलसीदास) ने सप्तम सोपान (उत्तरकाण्ड) में काक भुशुण्डि के द्वारा उक्त एक-एक प्रसंग मानस के सर्ग का सूचक है।^{१३}

“महाकाव्य में उचित स्थलों पर कवि के द्वारा वस्तु वर्णन के आयोजन से उसका इतिवृत्तात्मक अंश भी सरस हो जाता है। इसी से शास्त्रकारों ने कवि द्वारा वर्ण्य-विषयों की एक लम्बी सूची दी है।”^{१४} महाकाव्य में घटनाओं का सम्बन्ध-निर्वाह और रसात्मक प्रसंगों की अवतारणा-दोनों पर एक साथ ध्यान देना होता है। वर्णनों का आयोजन घटनाओं और परिस्थितियों के अनुकूल ही करना पड़ता है। मानसकार द्वारा वस्तुवर्णन अत्यंत मर्यादित रूप में हुआ है। केशव आदि की भाँति वस्तु परिगणना से पाठकों को उबाना ‘मानस’ कार को कभी अभीष्ट न था।

रामचरितमानस का कथानक चार नगरों से सम्बद्ध है। ये नगर हैं- अयोध्या, जनकपुर, किष्किन्धा और लंका। कवि ने चारों नगरों का वर्णन न्यूनाधिक अभिरुचि के साथ किया है। इनमें अयोध्या और जनकपुर के वर्णनों में तो कवि ने कुछ उठा नहीं रखा है। हाँ, किष्किन्धा और लंकापुरी के वर्णन में मन न रमने के कारण बहाने बनाए गए हैं।

“सर्वप्रथम कवि ने जनकपुर का वर्णन किया है।”^{१५} राम-लक्ष्मण मुनि विश्वामित्र के साथ जनकपुर के समीप पहुँचे। दूर से नगर की शोभा देखकर दोनों भाई अत्यंत प्रसन्न हुए। नगर की शोभा है भी अत्यंत मनोरम। नगर के चतुर्दिक् अनेक बावलियाँ, कुएँ, नदियाँ और सरोवर हैं। इनमें जल अत्यंत स्वच्छ और सुरभित है। सबोंमें सुन्दर सीढ़ियाँ बनी हुई हैं, जिनमें जड़ी हुई अमूल्य मणियाँ अपूर्व छवि बिखेर रही है। सरोवरों और नदियों में अनेक वर्ण के कमल प्रभूत परिणाम में प्रस्फुटित हैं। इनके मकरंद-पान कर भ्रमर समूह उन्मत्त गुंजार कर रहे हैं। रंग-बिरंगे पक्षी ऐसा कर्णमधुर कलरव कर रहे हैं कि पथिकों का मन बरबस उस ओर खिंच जाता है। इन सरोवरों के

आस-पास अनेक उपवन, अमराई और पुष्पवाटिकाएँ ‘विपुल विहंग निवास’ बनी हुई है। पक्षियों के सम्बन्ध में स्मरणीय है कि राजा लोग अपने उद्यानों में मनोरंजन के विचार से अनेक प्रकार के पक्षी पाल रखते थे। आगे लक्ष्मणजी का मुर्गे की बाँग सुनकर ब्राह्ममुहूर्त में उठना लिखा गया है।^{१६} अमराई एवं वाटिकाओं में अनेक प्रकार के फल-फूलों के वृक्ष और पौधे हैं, जो सबके सब फल-फूल और पल्लवों से लदे हुए हैं। ये स्वयं तो शोभायमान हैं ही, नगर की रम्यता में भी चार चाँद लगा रहे हैं।

नगर की अंतःशोभा भी देखते ही बनती है। कवि कहते हैं, नगर का सौंदर्य कुछ कहते नहीं बनता। मन जिस ओर जाता है, उधर ही अँटक जाता है। बाजार को ही देख लीजिए। ऐसा प्रतीत होता है कि स्वयं विधाता ने अपने हाथों सँवार-सँवार कर बनाया है जिसके लिए मुख्य उपादान के रूप में मणियाँ ली गई हैं। बाजार दो-मंजिला है। नीचे बैठनेवाले वणिक् और अँवारियाँ पर बैठनेवाले धनिक (सर्पाफ आदि) सब के सब कुबेर के समान हैं। इनके पास किसी प्रकार की वस्तु की कोई कमी नहीं है।

बाजार के आगे चौक है। कवि कहते हैं कि चौक और गलियाँ अत्यंत सुन्दर हैं जो सदैव सुगंधित द्रव से सींची जाती है। सभी के घरों में मंगलसाज सजे हैं। दीवारों पर विभिन्न देवताओं की प्रतिमाएँ कढ़ी हुई हैं। इन घरों में रहनेवाले लोग शरीर से सुन्दर एवं पवित्र, हृदय, संत, मस्तिष्क से गुणवान् तथा ज्ञानी और मन से धर्म-परायण हैं।

राजप्रासाद सर्वथा अनुपम है। वहाँ के ऐश्वर्य-विलास को देखकर पंडितजन भी स्तमित रह जाते हैं। परकोटों को देखकर दर्शकों के चित चकित रह जाते हैं मानों समस्त लोकों की शोभा वे ही धारण किए हुए हैं। वे महल स्वच्छ स्फटिक मणि के बने हैं जिनमें मणिरचित स्वर्ण के अनेक झरोखे हैं। इनमें एक अत्यंत सुंदर महल है जो सीताजी का निवास है। राज-प्रासाद के विशाल फाटकों में हीरे के किवाड़ लगे हैं।

इस ऐश्वर्य की रक्षा राज्य में शांति बनाए रखने के लिए और राजा के ऐश्वर्य-प्रदर्शन के लिए चतुरंगिनी सेना का भी प्रबंध है। विशाल गजशाला एवं अश्वशाला है जिनमें हाथियों, घोड़ों एवं रथों का प्राचुर्य है। अनेक मंत्री वीर एवं सेनापति है।

इन वर्णनों में सरोवरों में 'मणि सोपान' से पच्चीकारी-मीनाकारी, 'धवल धाम' से शिल्पकला एवं 'पटु-सुघटित नाना भाँति' से नक्काशी-कसीदा आदि कलाओं की उत्कृष्टता सूचित की गई है।

किष्किन्धा

अब यहाँ बालि और सुग्रीव के साथ किष्किन्धा का चित्रण देखा जाय। राम-लक्ष्मण सीता को खोजते हुए पंचवटी से आगे चलते हैं, तब ऋष्यमूक पर्वत दिखाई दिया। यह मलय पर्वत का एक भाग है। यह स्थान राचूर के समीप वर्तमान समय में हम्मी क्षेत्र के निकट स्थित है। यह पहले पम्मा नाम से जाना जाता था। यहीं सुग्रीव अपने मंत्रियों के साथ रहते थे, जहाँ सर्वप्रथम श्रीराम से सुग्रीव और हनुमान् का समागम हुआ था। ऋष्यमूक पर्वत पर से सुग्रीव दोनों भाइयों को देखकर डर जाते हैं। उन्हें ऐसा प्रतीत होता है कि ये दोनों बालि के द्वारा भेजे हुए दूत हैं। अतः उन्होंने हनुमान् को ब्राह्मण का रूप धारण करके दोनों भाइयों को पता लगाने के लिए भेजा। सुग्रीव ने हनुमान्जी को यह भी कहा कि यदि वे बालि के द्वारा भेजे हुए हों, तब तुम संकेत से बतला देना जिससे मैं दूसरे पर्वत पर चला जाऊँ। हनुमान्जी ने मस्तक नवाया और पूछा-

“को तुम्ह स्यामल गौर सरीरा।
छत्री रूप फिरहु बन बीरा॥
कठिन भूमि कोमल पद गामी।
कवन हेतु बिचरहु बन स्वामी॥”^{१०}

इस पर राम कहते हैं-

“कोसलेस दसरथ के जाए।
हम पितु बचन मानि बन आए॥
नाम राम लछिमन दोउ भाई।
संग नारि सुकुमारि सुहाई॥”^{१८}

तत्पश्चात् हनुमान्जी ने दोनों भाइयों को पहचान कर साष्टांग प्रणाम किया। उसके बाद हनुमान्जी असली रूप में प्रकट हो गये। पुनः दोनों भाइयों को पीठ पर बैठाकर सुग्रीव के पास ले गये तथा अग्नि के साक्षी देकर मित्रता करवायी। पुनः लक्ष्मण ने सभी कथा कही। सुग्रीव ने कहा कि है नाथ! सीताजी मिल जायेगी। उसके बाद राम ने कहा- हे सुग्रीव! तुम वन में किस कारण से रहते हो। सुग्रीव ने अपनी सभी बातें बतायी। तत्पश्चात् राम ने बलि को मारकर सुग्रीव को राज्य ओर अंगद को युवराज पद दिया। उसके बाद राम प्रवर्षण पर्वत पर चले गये और इसी पर्वत पर दोनों भाई निवास करने लगे।

यह पर्वत वन्य जीवों से भरपूर एवं अनेक प्रकार के वृक्षादि लताओं से सुशोभित है। इस पर्वत पर देवताओं ने दोनों भाइयों के लिए सुन्दर गुफा बना कर रखी है। यह पर्वत सुन्दर वन से फूला हुआ अत्यंत शोभायमान है। मधु के लोभ से भौरें गुंजार कर रहे हैं। यहाँ प्रभु श्रीराम को अपने से कन्द, मूल, फल और पत्तों की अधिकता हो गयी है। देवता, सिद्ध और मुनि भौरों, पक्षियों और पशुओं के शरीर धारण करके प्रभु की सेवा करने में लगे हैं। इस पर्वत पर सुन्दर स्फटिकमणि की एक शिला है। उस पर्वत पर मोरों के झुण्ड है। इस भाँति के मनोहर और सुन्दर पर्वत को देखकर श्रीरामजी छोटे भाई लक्ष्मण सहित वहाँ रह गये। उसी पर्वत पर रहते-रहते वर्षा और शरद ऋतु व्यतीत हो गया, परन्तु सीता का पता किसी ने नहीं बतलाया। राम जी ने लक्ष्मण से कहा-

“तब अनुजहि समुझावा,
रघुपति करूना सींव।
भय देखाइ लै आवहु,
तात सखा सुग्रीव॥”^{१९}

उसके बाद सुग्रीव आये, तब चारों दिशाओं में सीता की खोज में वंदरों को भेजा। सबसे पीछे हनुमान्जी ने सिर नवाया और प्रभु श्रीरामजी ने उन्हें हाथ की अंगूठी उतारकर दी तथा कहा-

“बहु प्रकार सीतहि समुझाएहु।
कहि बल बिरह बेगि तुम्ह आएहु।
हनुमत जन्म सुफल करि माना।
चलेउ हृदय धरि कृपानिधाना॥”१०

यहाँ सभी वानर वन, नदी, तालाब, पर्वत और पर्वतों की कन्दराओं में खोजते हुए जा रहे हैं। रास्ते में कोई राक्षस मिलता है तब उसको एक चपत में प्राण हर लेते हैं। कोई ऋषि-मुनि मिलता है, तब उससे सीता का पता पूछने लगते हैं। फिर सभी बानर मिलकर लवणसागर के तट पर कुश बिछाकर बैठ गये। जाम्बवान् सभी को समझाने लगे। इनकी बातों को पर्वत की कन्दरा में संपाती ने सुनी। संपाती बाहर आया जिससे सभी डर गये। पुनः वानरों के पास आकर जटायु का वृत्तान्त पूछा और कहा कि इसके बदले में मैं तुम्हें बात दूँगा कि सीता कहाँ है। समुद्र के तीर पर जटायु का संपाती ने श्राद्ध कर्म किया और सीता का पता बताया कि त्रिकूट पर्वत पर लंका बसी हुई है, वहाँ निडर रावण रहता है, वहाँ अशोक नाम का उपवन है, वहीं रावण सीता को रखे हुए है। जो व्यक्ति चार सौ कोस का समुद्र पार करेगा और बुद्धिमान् होगा, वही सीता का पता लगायेगा। उसके बाद संपाती चला गया। इधर समुद्र पार करने के लिए किसी ने हिम्मत नहीं की, तब जाम्बवान् ने हनुमान जी से कहा-

“कहइ रीछपति सुनु हनुमाना।
का चुप साधि रहेउ बलवाना॥
पवन तनय बल पवन समाना।
बुधि विवेक बिग्यान निधाना॥
कवन सो काज कठिन जगमाहीं।
जो नहि होइ तात तुम्ह पाहीं॥
रामकाज लागि तव अवतारा।
सुनतहि भयउ पर्वताकारा॥”११

इन वर्णनों में हनुमान्जी की वीरता, बुद्धिमान् और ज्ञानवान् होने का संकेत मिलता है। ऐसे भी लंका राक्षसों का गढ़ था, इसीलिए वहाँ कोई सम्पन्न व्यक्ति ही जा सकता था।

लंका-

अब हनुमान के साथ लंका की शोभा पर विचार किया जाय। विशाल पर्वत पर चढ़कर हनुमान् पहले लंकागढ़ का निरीक्षण करते हैं।^{१२} दिखाई देता है कि लंकागढ़ के चतुर्दिक समुद्र है। बीच उत्तुंग त्रिकूट पर बसा हुआ लंका दुर्ग भी अति उत्तुंग है। दुर्ग के चारों ओर सोने का प्राचीर है जो अत्यंत प्रकाशित है। स्वर्ण प्राचीर के भीतर मणिखचित दीवारों वाले विशाल एवं सुंदर असंख्य प्रासाद हैं। चौराहे, बाजार, राजमार्ग, सड़कें तथा सुंदर गलियाँ हैं जिनसे सुंदर नगर अत्यंत मनोहर लग रहा है। यहाँ सेना का बाहुल्य है। गज, अश्व, रथ एवं अनेक रूपों वाले अत्यंत बलवान वीर योद्धा मिलकर चतुरंगिनी सेना का निर्माण करते हैं। इनकी संख्या अगणित है।

इस नगर की शोभा-बनावट भी कुछ जनकपुर जैसी ही है। यहाँ भी बाहर से क्रमशः वन, बाग, उपवन, वाटिका और 'सर कूप वापी' है। यहाँ के पुरुष तो सुन्दर नहीं है किन्तु ये बलवान् होने के कारण मनुष्य, नाग, देव एवं गंधर्वों की अतिशय सुन्दर कन्याओं को वशीभूत किए हुए हैं। ये कन्याएँ ऐसी रूपवती हैं कि मुनियों के मन भी क्षणभर में मोह लेती हैं।

कहीं-कहीं विशालकाय मल्लगण अखाड़ों में नाना प्रकार से गर्जन-तर्जन करते और परस्पर लड़ते भिड़ते रहते हैं। भयंकर शरीरवाले करोड़ों योद्धा यत्नपूर्वक चारों दिशाओं से नगर की रक्षा करते हैं। ये दुष्ट कहीं भैसा, कहीं मनुष्य, कहीं गाय-गधे और कहीं बकरियों को पकड़कर खाए जा रहे हैं। इससे इनकी दुष्टता एवं सतर्कता के साथ इनका पराक्रम भी व्यंजित हो रहा है। रावण दिग्विजयी था। फिर भी लंका में सैनिक प्रशिक्षण में शैथिल्य नहीं दिखता। लंका में दो चीजों का आदर था- पुरुष के बल और स्त्री के सौंदर्य का। स्त्री सुंदर होना चाहिए, चाहे वे किसी भी कुल की क्यों न हो।

अयोध्या-

रामराज्य की राजधानी अयोध्या का वर्णन कवि ने कुछ और विस्तार से किया है। सनकादि मुनिगण जो वैकुण्ठ के ऐश्वर्य के सामने सदा उदासीन बने रहते हैं, अयोध्या की शोभा देखकर कुछ काल के लिए वैराग्य को भूल जाते हैं।

नगर के चारों ओर अत्यंत सुंदर प्राचीर है, जिन पर रंग-बिरंगे सुंदर कंगूर बनाए गए हैं। प्राचीर पर बने इन कंगूरों को देखने पर ऐसा लगता है कि नवग्रहों की सेना ने इन्द्रपुरी को आ घेर ली हो। इस प्राचीर के पास की भूमि अनेक रंगों के काँचों से गच की हुई है जिसे देख कर श्रेष्ठ मुनियों के मन भी थिरक उठते हैं। प्राचीर के भीतर मणिजटित स्वर्ण अट्टालिकाएँ हैं जिनकी गच नाना रंगों से रुचिर बनाकर ढाली गई है।

उज्ज्वल प्रासाद ऊपर आकाश को चूमते नजर आते हैं जिन पर स्थापित कलश सूर्य चंद्र से मानो अधिक प्रकाशवान् हों। उन महलों में अनेक मणिखचित झरोखे हैं। प्रत्येक घर में मणियों के दीपक विराजमान् हैं। इन भवनों की देहरी मूँगे जटित हैं, मणियों के खंभे हैं और स्वर्ण-दीवारों में मानो विधाता ने आकर मरकत मणियाँ जड़ दी हैं। कक्ष विशाल, सुंदर और मनोहर है जिनके बीच का आँगन सुंदर स्फटिक मणि का बना है। प्रत्येक द्वार में हीरा जटित स्वर्ण कपाट जड़े हुए हैं। प्रत्येक घर में पवित्र चित्रशालाएँ हैं, जिनमें अयोध्या-वासियों के परम आराध्यदेव श्रीराम के चित्र और चरित्र अंकित हैं।

सबने अपने-अपने घरों के पास पुष्पवाटिकाएँ लगाई हैं। अनेक जाति की ललित सुहावनी बेलें लगी हैं जो सदैव वसंत की तरह फूलती हैं (सभी ऋतुओं में खिलनेवाली अलग-अलग बेलें विद्यमान् हैं)। वहाँ सदैव शीतल एवं सुगंधयुक्त वायु मंदगति से चलती है। भौरे मदमस्त होकर गुंजार करते रहते हैं। बालकों ने अनेक प्रकार के सुंदर पक्षी पाल रखे हैं जिनकी आवाज मधुर और मनोहर लगती है। इनमें मोर, हंस, सारस और कपोत तो भवनों पर बैठकर अत्यंत

सुशोभित हो रहे हैं। इनमें से अनेक दीवारों में अपनी छाया को देखकर कलरव और नृत्य करते हैं। राजद्वार सब प्रकार से सुंदर है। चौराहे और गलियाँ भी रुचिर हैं।

बाजार अत्यंत मनोहर हैं। यहाँ वस्तुएँ बिना मूल्य दिये भी मिलती हैं। बाजार में कुबरे के समान अनेक धनवान् सर्राफ और वणिक् बैठे हैं। नगर के समस्त वृद्ध नर-नारी सुंदर सच्चरित्र और वैभवशाली हैं।

नगर के उत्तर में अत्यंत गंभीर और स्वच्छ जलवाली सरयू नदी प्रवाहित है। सुंदर घाट बँधे हैं और किनारों पर कीचड़ का नाम तक नहीं है सब घाटों से दूर एक लम्बा-चौड़ा घाट बँधा है जिस पर हाथी-घोड़े जल पीते हैं। अत्यंत सुंदर पनघट है, जहाँ पुरुष नहीं जाते हैं। राजघाट सबसे सुंदर और श्रेष्ठ है, जहाँ चारो वर्ण के लोग स्नान करते हैं। नदी के किनारे-किनारे देवों के अनेक मंदिर हैं जिनके चारो ओर सुंदर उपवन हैं। कहीं-कहीं सरयू के किनारे कुछ ज्ञानरत संन्यासी रहते हैं। इन मुनियों ने तीरों पर तुलसी ने अनेक थाले लगा दिए हैं। नगर के बाहर अनेक वनोपवन, वापी-तड़ाग हैं। इस प्रकार नगर का बाह्य-सौंदर्य अत्यंत चित्राकर्षक है। इन बाबलियों और तालाबों में सुंदर सीढियाँ बनी हुई हैं। जल ऐसा स्वच्छ है कि देवों और मुनियों के मन भी मुग्ध हो जाते हैं। अनेक वर्ण के कमल खिले हैं, जिनपर भौरे गुंजार कर रहे हैं। अनेक प्रकार के जलपक्षी कलरव कर रहे हैं। पार्श्ववर्ती रमणीय अमराइयों में कोयल आदि की बोलियाँ मानों पथिक को बरबस अपनी ओर बुला लेती हैं। अयोध्या में अणिमादिका सिद्धियाँ तो मानो आकर बस गई हैं।

इस वर्णन की दो एक बातें विचारणीय हैं। 'वस्तु बिनु पथ पाइये' से दो बातों का संकेत मिलता है। एक तो यह कि समाज में सभी सच्चरित्र और विश्वसनीय थे। न तो विक्रेता को अपने पैसे डूबने का भय और न क्रेता को किसी प्रकार से ढगे जाने की आशंका थी। दूसरी बात यह कि समाज इतना समृद्ध

था कि किसी को अर्थ की चिंता ही नहीं थी। बाजार की व्यवस्था श्रमविभाजन के द्वारा लोक जीवन को अधिक सुविधापूर्ण बनाने की दृष्टि से थी। राजघाट के वर्णन से स्पष्ट है कि विभिन्न वर्ण के लोगों के बीच किसी प्रकार की अस्पृश्यता की भावना न थी। लोग स्वतः अपने-अपने वर्णाश्रम धर्म का पालन बड़ी तत्परता से करते थे जैसा कि पूर्व ही कवि ने कहा है- 'बरनाश्रम निज-निज धरम निरत बेद पथ लोग'^{१३} अतः वर्णधर्म पालनार्थ किसी प्रकार की सख्ती की आवश्यकता नहीं थी। 'पनिघट... से संकेत मिलता है कि नारियों के मनोकूल जलक्रीड़ादि की अलग व्यवस्था थी। अयोध्या के वर्णन में हमें शांत रस के दर्शन होते हैं जबकि जनकपुर की शोभा का वर्णन श्रृंगार के उद्दीपन रूप में हुआ है। इसलिए जनकपुर वर्णन में 'गिरिजागृह' का भी वर्णन नहीं हुआ जबकि प्रस्तुत वर्णन में तीन अर्धालियों में देवमंदिर एवं मुनियों की चर्चा है।

अब दोनों नगरों की शोभा तुलनार्थ कवि के ही शब्दों में प्रस्तुत की जाती है-

जनकपुर-

1. पुर रम्यता राम जब देखी
हरषे अनुज समेत विसेषी॥
2. बापीकूप सरित सर नाला।
सलिल सुधासम मनि सोपाना॥
3. गुंजत मंजु मधुरस भृंगा।
कूजत कलबहु बरन विहंगा॥
4. त्रिविध समीर सदा सुखदाता।
5. सुमन वाटिका बाग वन विपुल विहंग निवास।
फूलत फलत सुपल्लव सोहत पर चहुँ पास॥
6. बनै न बरनत नगर निकाई।
7. चारू बाजारू विचित्र अवारी।
मनिमय विधि जनु स्वकर सँवारी॥
8. धनिक बनिक बर धनद समाना।
बैठे सकल वस्तु लै नाना॥
9. चौदह सुंदर गली सुहाई।

10. संतत रहहिं सुगंध सिंचाई।
11. मंगलमय मंदिर सब करे।
12. चित्रित जनु रतिनाथ चितेरे।
13. पुर नर नारि सुभग सुचि संता।
14. अति अनूप जहँ जनक निवासू।
बियकहि बिबुध बिलोकि बिलासू॥
15. होत चकित चित कोट बिलोकी।
16. धवल धाम
17. मनिपुरट पटु सुघटित नाना भाँति
18. सियनिवास सुंदर सदन
सोभा किमि कहि जाति
19. सुभग द्वार सब कुलिस कपाटा
20. भूपभीर नट मागध भाटा
21. बनी बिसाल बाजि गजसाला।
हय गय रथ संकुल सब काला॥
22. सूर सचिव से नप बहुतेरे।
नृपगृह सरिस सदन सबकरे॥

अयोध्या

1. दिन प्रति सकल अयोध्या आवहीं।
देखि नगरु विराग विसरावहीं॥
2. बापी तड़ाग अनूपकूप मनोहरायत सो हठीं।
सोपान सुंदर नीर निर्मल देखि सुरमुनि मोहही॥
3. बहुरंग कंज अनेक खग कूजहि मधुप गुंजारही॥
4. मारुत त्रिविध सदा वह सुंदर।
5. सुमन बाटिका सबहि लगाई।
विविध भाँति करि जतन बनाई॥
लता ललित बहु जाति सुहाई।
फूलहिं सदा वसंत की नाई॥
6. पुर सोभा कछु बरनि न जाई।
7. बाजारु चारु न बनै बरनत
वस्तु बिनु पथ पाइये॥
8. बैठे बजाज सराफ बनिक।
अनेक मनहु कुबेर ते॥
9. बीथीं चौहर रुचिर बजारू।
10. गली सकल अरगजा सिंचाई॥
11. मंगलमय निज-निज भवन लोगह रचे बनाई॥

12. चारू चित्र साला गृह प्रति रूचि लिखे बनाई।
13. सब सुंदर सब विरूज सरीरा।
सब गुनग्य पंडित सब ग्यानी।
सब कृतज्ञ नहिं कपट सयानी॥
14. भूप भवन तेहिं अवसर सोहा।
रचना देखि मदन मन मोहा॥
15. पुर चहुँपास कोट अति सुंदर।
16. धवल धाम ऊपर नम चुंबत।
17. मनिखंभ नीति विरंचिविरचित
कनक मनि मरकत खची।
18. रमानाथ जहँ राजा सोपुर बरनि की जाई॥
19. प्रतिद्वार-द्वार कपाट पुरट
बनाइ बहु ज़न्हि खचे।
20. मागध सूत बंदि नटनाजर।
गावहिं जसु तिहुँ लोक उजागर॥
21. नृप रुचि जीन तुरग तिन्ह सज्जे।
22. अवधपुरी वसिन्ह कर सुख संपदा समाज।
सहस सेष नहिं कहि
सकहि जहँ नृप राम विराज॥^{१४}
इस प्रकार रामचरितमानस में नगर-वर्णन अत्यंत
सुंदर, सटीक और शास्त्र सम्मत है।
- संदर्भ संकेत**
1. साहित्य-दर्पण- 6-317-20
2. रामचरितमानस- 37-1-10
3. रामचरितमानस,
काशिराज संस्करण,
आत्मनिवेदन पृष्ठा - 7-64-7-68-4
4. साहित्य दर्पण- 6-332-34
5. रामचरितमानस- 1-212-5-214-3
6. " - 5-3-11-21
7. " - 4-1-4
8. " - 4-2-1
9. " - 4-18
10. " - 4-23-6
11. " - 4-30-2-3
12. " - 7-27-3-29
13. " - 7-20
14. रामचरितमानस : नानापुराणनिगमागमसम्मत (डॉ.
गनौरी महतो) पृष्ठ 82-84
- राजेश्वर प्रसाद
तेतरिया, बड़ाय, नालन्दा
- ❖

नाभादासजी के पद

अवधपुरी की शोभा जैसी। कहि नहिं सकहिं शेष श्रुति तैसी॥
रचित कोट कलधौत सुहावना। बिबिध रंग मति अति मन भावना॥
चहुँ दिसि विपिन प्रमोद अनूपा। चतुरबीस जोजन रस रूपा॥
सुदिस नगर सरजू सरि पावनि। मनिमय तीरथ परम सुहावनि॥
बिगसे जलज भृंग रस भूले। गुंजत जल समूह दोड कूले॥
परिखा अति चहुँदिसि लसति, कंचन कोट प्रकास।
बिबिध भाँति नग जगमगत, प्रति गोपुर पुर पास॥

(नाभादास रचित 'अष्टयाम' से)
-आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास,
पृ.98, लोकभारती प्रकाशन, 2007

‘मानस’ का पुष्पवाटिका-प्रसंग

-डॉ. गनौरी महतो

रामचरितमानस के मुख्य आधार-ग्रन्थों-वाल्मीकीय और अध्यात्म-रामायणों में पुष्पवाटिका-प्रसंग का विधान नहीं है। किन्तु मानसकार गोस्वामी तुलसीदास भलीभाँति समझते थे ‘पूर्वराग-प्रसंग’ का महत्त्व। आठवीं शताब्दी और उसके बाद की रामकथाओं में ही विवाह के पूर्व राम और सीता के मिलन और परस्पर आकर्षण का उल्लेख मिलता है। मानस में पुष्पवाटिका-प्रसंग और पूर्वराग का विधान ‘अनर्धराघव’ ‘प्रसन्नराघव’ आदि नाटकों के आधार पर किया गया है।

कामदेव के अंकुरित होने की भावना शृंगार है। यह तीन प्रकार का होता है- पूर्वराग, संभोग (संयोग और विप्रलंभ (वियोग)। इसका स्थायी भाव रति है जिसका आश्रय- आलंबन परस्पर उत्तम कृति से युक्त नायक-नायिका होते हैं।

आलंबन की चेष्टाएँ तथा मनोरम प्रकृति (उद्यान, नदी-तट तथा चाँदनी आदि) उद्दीपन विभाव होती हैं।

रूप-गुण-श्रवण या दर्शन (साक्षात्, स्वप्न या चित्र-दर्शन) से नायक या नायिका के हृदय में उत्पन्न होनेवाले प्रथम ‘राग’ को पूर्वराग कहते

हैं।^२ विद्यापति के राधा-कृष्ण दूती के मुख से रूप-गुण सुनकर परस्पर अनुरक्त होते हैं। ‘पद्मावत’ का रतनसेन सुग्गे के मुख से पद्मावती का रूप-दर्शन सुनकर योगी हो जाता है। अनिरुद्ध को स्वप्न में देखकर उषा उसपर मुग्ध हो जाती है।

कतिपय रामकथाओं में सीता का चित्र देखकर उसे पाने के लिए राम धनुष तोड़ने को प्रस्तुत हो जाते हैं। साहित्यिक परम्परा में नायक-नायिका का प्रथम मिलन प्रायः उद्यान, शिवमन्दिर आदि में होता है या नगर में घूमते नायक को झरोखे पर बैठी नायिका देख लेती है। मानस में तीनों परिस्थितियाँ सुलभ थीं, किन्तु कवि ने प्रथम परिस्थिति को चुना है, जो विशुद्ध शृंगार के लिए सर्वश्रेष्ठ वातावरण प्रस्तुत करती है। देवमन्दिर में इनका मिलन होना श्रेष्ठ

नहीं माना जा सकता। मिलन के लिए मानसकार उद्दीपन विभाग प्रस्तुत करते हैं-

भूप बागु बर देखेउ जाई।
जहँ बसंत रितु रही लोभाई॥

गोस्वामी तुलसीदास के ‘रामचरितमानस’ की यह विशेषता है कि उसमें एक ओर भक्ति, ज्ञान तथा आदर्श है तो दूसरी ओर काव्य की रमयीयता है; रण भेरी की गूँज है तो सुरभित वसन्त में मधुमय कानन में कोकिल की कूक है। रस, अलंकार, रीति, गुण इन सबका मधुमय संयोग ‘रामचरितमानस’ में हम पाते हैं। यही कारण है कि ‘मानस’ कल्प-वृक्ष की भाँति सब के लिए सब कुछ देने में समर्थ कालजयी कृति है।

-सं.

लागे विटप मनोहर नाना।
 बरन बरन बर बेलि बिताना॥
 नव पल्लव फल सुमन सुहाए।
 निज सम्पत्ति सुर रूख लजाए॥
 चातक कोकिल कीर चकोरा।
 कूजत बिहग नटत कल मोरा॥
 मध्यबाग सर सोह सुहावा।
 मनि सोपान विचित्र बनावा॥
 बिमल सलिल सरसिज बहुरंगा।
 जल खग कूजत गुंजत भृंगा॥^३

सरोवर के पास ही गिरिजा मन्दिर है, किन्तु उसका वर्णन यहाँ नहीं किया गया, क्योंकि वह शृंगार-विरोधी शांत रस का उद्दीपन है। आगे, जब किशोरीजी गिरिजा-पूजन को आयेंगी तब उसका वर्णन कवि करेंगे- 'सर समीप गिरिजा गृह सोहा।'^४

ऐसी सुन्दर वाटिका में दो अनुपम राजकुमार 'फूल' लेने आये हैं। उधर जनकनंदिनी किशोरी सीताजी अपनी 'सुभग सयानी' सखियों के साथ गिरिजा हेतु आयी हैं। एक सखी का मन पूजा-पाठ में नहीं लगता। वह मनोरम बाग में एकाकी विहार की इच्छा से उनका संग छोड़ देती है। किन्तु यह क्या, वह तो किसी के नेत्रबाणों से बिद्ध हो गई। घायल होकर उसने किशोरीजी की गुहार की। सभी एक साथ उस ओर चल पड़ीं। इनकी मस्त गति के साथ कंकन, किंकिन एवं नूपुर की कामोद्दीपक ध्वनि सुनकर राम अपने अनुज से कहते हैं- अरे, देखो, यह ध्वनि कैसी है, मानो कामदेव सृष्टिमात्र को जीतने के विचार से डंके पर चोट दे रहा हो।^५ कंकन कहता है- हमारी ध्वनि को सुनकर कौन कंक न हुआ? किंकिनी कहती है- मैंने किन-किन को वंशीभूत न किया।

फिर उसी ओर देखने लगे। सीता के मुखचन्द्र के लिए उनके चारु नेत्र-चकोर बन गए। शोभा देखते ही बनती थी। हृदय शराहत (शर से आहत) हो गया, कण्ठ रूँध गया (बचनु न आवा)। वह शोभा थी भी ऐसी ही।

जो छविसुधा पयोनिधि होई।
 परम रूपमय कच्छपु सोई॥
 सोभा रजु मंदरु सिंगारू।
 मथौ पानि-पंकज निज मारू॥

एहि बिधि उपजे लच्छि जब, सुन्दरता सुखमूला।
 तदपि संकोच समेत कवि, कहहिं सीय समतूला।^६

इस अलौकिक शोभा ने राम के 'सहज पुनीत' मन में 'क्षोभ' पैदा कर दिया। यह क्षोभ कोई काम-लोलुप नायक के हृदय का क्षोभ नहीं है। रघुवंशियों का तो यह सहज स्वभाव है कि वे कुमार्ग पर पग नहीं देते; उस पर भी राम को अपने सहज पुनीत मन पर विश्वास है। तो फिर यह क्षोभ क्यों? अवश्य ही कुछ रहस्य है- शुभ शकुन साथ हैं-

सो सबु कारन जान बिधाता।
 फरकहिं सुभद अंग सुनु भ्राता॥^७

उधर किशोरीजी चारो ओर चकित चितवन से नृपकिशोर को ढूँढ़ रही हैं। सखियों ने संकेत किया और उधर उसी समय दोनो राजकुमार लताकुंज से बाहर निकले। लगा, जैसे बादलों की घटा को हटाकर दो स्वच्छ निष्कलंक चन्द्र निकले हों। इस शोभा को देखते-देखते आँखें थक गईं; पलकों का गिरना बंद हो गया।

सोभा सीवँ सुभग दोउ बीरा।
 नील पीत जलजाभ सरीरा॥

मोर पंख सिर सोहत नीके।
 गुच्छ बीच बिच कुसुम कली के॥
 भाल तिलक श्रमबिन्दु सुहाए।
 श्रवन सुभग भूषण छविछाए॥
 विकट भृकुटि कच घूघरवारे।
 नव सरोज लोचन रतनारे॥
 चारु चिबुक नासिका कपोला।
 हास बिलास लेत मनु मोला॥
 मुखछवि कहि न जाइ मोहि पाहीं।
 जो बिलोकि बहु काम लजाहीं॥
 उर मनिमाल कंबु कल ग्रीवा।
 कामकलभ कर भुजबल सींवा॥
 सुमन समेत बामकर दोना।
 साँवर कुँअर सखि सुठि लोना॥

केहरि कटिपट पीत धर सुषमा सील निधान।
 देखि भानुकुल भूषनहि बिसरा सखिन्ह अपाना॥

देखकर क्या हुआ- 'अधिक सनेह देह भइ भोरी।' तब नेत्र-द्वार से राम को हृदय में बिठाकर पलक के कपट लगा दिए। उधर राम ने जब सीता को जाते देखा तो उनका वह चित्ताकर्षक चित्र अपने चारुचित्त की भित्ति पर परम प्रेम की मसि से उतार लिया। यह है प्रेम का आदर्श और उसका चित्रण-कौशल। तुलसी ने 'प्रीति पुरातन' और 'नारद वचन' का संकेत कर यह जना दिया कि दोनों का प्रेम जन्म-जन्मांतरों का प्रेम है। विशुद्ध साहित्यिक दृष्टि से यह रस-परिपाक में शिथिलता उत्पन्न करता है, अन्यथा पूर्व रागोदय का ऐसा चित्रण विश्व-साहित्य में शायद ही मिले, राजबहादुर लमगोड़ाजी को तो नहीं मिला!

आगे सीता की मनोदशा का जैसा मनोवैज्ञानिक चित्रण हुआ है, उसे देखकर कवि की अनुभूति-ग्राहिणी शक्ति और प्रेषणीयता की अपूर्व क्षमता की प्रशंसा करते कोई भी भावुक पाठक तृप्त नहीं हो सकता। सीता राम की मूर्ति को हृदय

में बसाकर चलीं। किन्तु प्रश्न सामने आया, वह प्राप्त कैसे हो? नारद का वचन तो है, पर उसका क्या भरोसा? पिता का प्रण जो बीच में है-

नख सिख देखि राम कै सोभा।

सुमरि पितापनु मनु अति छोभा॥^९

माता के कहने से गौरी की पूजा करके वे अभी आयी हैं और 'निज अनुरूप सुभग वर' माँग चुकी हैं। तथापि एक सखी प्रस्ताव करती है- 'बहुरि गौरि कर ध्यान करेहू।' इस बार विशेष वर माँगा जाय- 'भूप किसोर देखि किन लेहू।' गौरी को वरदान मिल भी जाता है- 'सो बस मिलिहिं जाहि मन राँचा।' फिर भी धनुष उठाने के लिए एक-से-एक शूरवीर राजाओं को उद्यत देखकर सीता के हृदय की कैसी दशा रही होगी, इसे तुलसी भी न लिख सके। लाख आश्वासन और निश्चय के बावजूद अति अभीप्सित वस्तु की सम्प्राप्ति में कितनी आशंका रहती है, इसे सभी जानते हैं। फिर सीता भी उस आशंका से कैसे बचतीं। धनुष उठाने में सभी राजे विफल हो गए। अच्छा हुआ। पिता जनक निराश हो गए- पुरजन-परिजन भी। यह क्या! लक्ष्मण कुपित हुए, ढाढ़स हुआ। राम धनुष उठाने के लिए आगे बढ़े। पर वे धनुष उठा ही लेंगे, इसका क्या भरोसा? यहाँ दो ही रास्ते थे- या तो प्रिय को प्राप्त करना या आजीवन कुमारी रहना। प्रश्न टेढ़ा था। सीता का मन उद्वेलित हो गया। इसे ही कवि ने पकड़ने का प्रयास किया है। वह किसी एक देवता को स्थिर रूप से मना भी नहीं पाती है। जिसका नाम याद आ जाता है, उसी को मनाने लगती है। यहाँ आशंका की पराकाष्ठा है-

तब रामहिं बिलोकि बैदेही।

सभय हृदय बिनवति जेहि तेही॥^{१०}

भवानी को स्मरण करती है-

मनहिं मन मनाव अकुलानी।

होहु प्रसन्न महेस भवानी॥^{११}

वे गणेश की सेवाओं का मूल्य आज ही चुका लेना चाहती हैं-

गन नायक बरदायक देवा

आजु लगे कीन्हिउँ तुअ सेवा॥

बार बार बिनती सुनि मोरी।

करहु चाप गुरुता अति थोरी॥^{१२}

अपने प्रिय को वे जितना ही देखती हैं, उतना ही देवताओं को मनाती हैं। यहाँ उनकी प्रियविषयक एकनिष्ठता, प्रिय को प्राप्त न कर पाने की आशंका और परवशता सबकुछ व्यंजित है-

देखि देखि रघुबीर तन सुर मनाव धरि धीर।

भरे विलोचन प्रेमजल पुलकावली सरीर॥^{१३}

पहले का 'मनाव जेहि तेही' और यहाँ का मानव धरि धीर' कितना मनोवैज्ञानिक है। पिता के ऊपर खीझ आती है- अहह तात दारुन हठ ठानी। मन्त्रियों की भीरुता पर झल्लाती हैं- 'सचिव सभय सिख देइ न कोई।' उन्हें निश्चय हो जाता है- सिरस सुमन कन बेधिय हीरा॥ अंत में जो हानि की आशंका का मूल कारण था, उसी पर सबकुछ छोड़ देती हैं- 'अब मोहिं संभुचाप गति तोरी।' अति परिताप के कारण धनुष की कठोरता और श्रीराम की कोमलता का विरोध कितना सकरुण बन जाता है। श्रीसीताजी के हृदय की कोमलता उपमाओं से प्रकट है। इस समय प्रेम ने उसे और भी उभारा है। इसीसे तो राजकुमार इतने सुकुमार दिखते हैं। भाव के प्रभाव को देखा जाय-चेतन को जड़ बना दिया, क्या राजा, क्या मन्त्री, क्या जनसामान्य सभी की

मति (सीता की दृष्टि में) मारी गई, सभी जड़वत् दीखते हैं। दूसरी ओर जड़ धनुष से विनय की जा रही है। सच है-

कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु।^{१४}

अथवा,

आरत काह न करै कुकरमू।

आत्ते को इतनी समझ कहाँ?

यह है विह्वलता।

अपनी व्याकुलता पर स्वयं लज्जित हो जाती है। भावों का ज्वर उतर जाता है। अब क्या करे। मनौती भी तो समाप्त हो गई। भाव-संघर्ष के गोलों में प्रतीति का नया मोती मिला-

जेहि कें जेहि पर सत्य सनेहू।

सो तेहि मिलै न कछु संदेहू॥^{१५}

सीता की उक्ति अनिष्ट पर विश्वास न करनेवाले प्राणिमात्र की उक्ति है। सीता की विह्वलता के इस चित्रण का आधार हनुमन्नाटक लक्षित होता है।^{१६} इस के समानांतर राम की भावनाओं का अवलोकन भी कर लेना चाहिए। सीता की शोभा की मन-ही-मन प्रशंसा करते हुए राम छोटे भाई (लक्ष्मण) से कहते हैं- "हे तात, यह राजर्षि जनक की कन्या है, जिसके लिए धनुष-यज्ञ हो रहा है। न जाने क्यों इसे देखकर मेरे मन में क्षोभ हो रहा है। सीता को नारदवचन पूर्व से ही प्राप्त था तो इन्हें सद्यः शुभ शकुन हो रहा है- फरकहिं सुभद विधाता जाने क्या होगा! किन्तु इनके पास आत्मबल है। सभी तो ऐसे भाग्यवान् होते नहीं-

जिन्ह कै लहहिं न रिपु रन पीठी।

नहिं पावहिं परतिय मन डीठी॥

मंगन लहहिं न जिन्ह कै नाहीं।
ते नरबर थोरे जग माहीं॥^{१०}

अनुज से बतकही करने का तात्पर्य यह है कि लक्ष्मणजी पीछे हैं। उनकी ओर देखकर बात करने में सीता को बार-बार देखने का अवसर मिल रहा है। बार-बार सीता की चर्चा (पहले शोभा-वर्णन, फिर परिचय) करने से राम की अधीरता व्यंजित हो रही है। 'मुख-सरोज' के 'मकरंद-पान' से याचकता टपकती है। पर यह सुअवसर तो समाप्त हो रहा है। उनकी अधीरता को लक्षित कर एक सखी ने चुटकी ली-

“पुनि आउब इहि बेरियाँ काली।”

सखी को अवसर इसलिए मिला कि सीताजी जड़वत् इनकी ओर देख रही थीं। सखी प्रत्यक्षतः तो सीता जी से कहती है किन्तु उसका लक्ष्य राम हैं- क्यों अधीर होते हो, कल इसी समय हमलोग फिर आयेंगे, तुम भी आना। पर कल का क्या भरोसा। कोई सामग्री भी तो यहाँ उपलब्ध नहीं है, नहीं तो एक चित्र ही बना लेते। पर सामग्री की क्या आवश्यकता है-

परम प्रेममय मृदु मसि कीन्हा।
चारु चित्त भीती लिखि लीन्हा॥^{११}

सीता के चले जाने पर दोनों भाई गुरु के पास चले। राम के हृदय में सीता का चारु चित्र है, अतः यह उस सौंदर्य की प्रशंसा करते जाते हैं। सीताजी मनोरथ लेकर गौरी के पास गईं और ये अपना मनोरथ लेकर गुरु के पास आये। उधर पूजा से प्रसन्न हो गौरी ने आशीष दी, इधर पूजा करके गुरु ने।

सुफल मनोरथ होहुँ तुम्हारे।
रामु लखनु सुनि भये सुखारे॥^{१२}

पुनः 'गुरु-आयसु पाई' संध्या करने चले। किन्तु मन तो उधर ही लगा हुआ है- कब एकांत

मिले कि हृदय में स्थित चित्र को देखें। चन्द्रमा को देखकर सीता के मुख की याद आ जाना स्मृति दशा है। सभी उपमाओं को कवियों की 'जुठारी' जानकर पहले ही छोड़ चुके हैं। चन्द्रमा को देखकर मन तनिक रुका, कुछ सुख मिला। किन्तु हृदय में तो एक (चित्र) बैठ चुका है, अब उसमें स्थान कहाँ? अतः चन्द्रमा के दोषों की लम्बी सूची प्रस्तुत हो गई। पहले नाम ही हिमकर दिया जो प्रेम की उमंगों को ठिठुरा देता है। तब-

सियमुख छवि बिधु ब्याज बखानी।

गुर पहिँ चले निसा बड़ि जानी॥^{१३}

कवि ने सचमुच यहाँ गागर में सागर भर दिया है। रामचन्द्र 'मधुपान' कर मत हो गए थे। नशे में शृंगार की बात गुरु से भी कह दी। गुरु ने सांत्वना दी। किन्तु बिना वमन के नशा दूर नहीं हुआ। यहाँ चन्द्रमा के बहाने सारे उद्गार व्यक्त हुए। वमन के बाद सावधान हुए। अरे, रात्रि तो अधिक बीत गई। अथवा रात्रि बहुत लम्बी प्रतीत हुई। काटे नहीं करती। न जाने कब सबेरा होगा। सखी के 'पुनि आउब इहि बेरियाँ काली' को सोचने लगे। यह रात बीच में पहाड़ सी आ पड़ी है। अतः 'गुरु ब्रह्मा' के पास चले कि वे रात को दिन कर देंगे। अथवा गुरु सूर्यस्वरूप हैं। अतः उनके पास चले कि सूर्य शीघ्र प्रकट हो। 'सियमुख छवि बिधु ब्याज' का भाव यह भी हो सकता है कि प्रथम (सियमुख) मूल है और दूसरा (विधु) ब्याज है। अतः दोनों का वर्णन इसी न्यूनाधिक भाव से हुआ। आज गुरु को प्रणाम करते ही विश्राम का आदेश मिल गया। पर इन्हें नींद कहाँ! लक्ष्मण सबसे पहले जागते थे (उठे लखनु निसि...।) पर आज तो 'विगत निसा रघुनायक जागे।' आज जागने में ये नायक बन गए। भाई से कहने लगे-उठेउ

अरुन...। तात्पर्य यह कि चन्द्रमा तो सियमुख-समता नहीं पा सका- शायद अरुण समता करे। कल दिनभर की 'बतकही' और सियमुख छवि-वर्णन में लक्ष्मण ने योग नहीं दिया। किन्तु आज तो वीर रस की आवश्यकता है, आज इन्हें धनुर्भंग करना है और इनका मन अभी तक शृंगार में ही लिपटा है। अतः 'जोरि जुगपानी' सचेत किया- अरुणोदय तो वीरता का द्योतक है।

पुष्पवाटिका में प्रस्फुटित यह प्रेम (पूर्वराग) आजीवन तद्रूप बना रहता है। इस प्रेम-पट में कभी किसी प्रकार की खोंच नहीं लग पाती। इसमें न तो सूर की सी ऐकान्तिकता है और न रीतिकालीन हास-विलास की उच्छृंखला है। सर्वत्र आदर्श भारतीय पति-पत्नी रूपी दोनों तटों के बीच से होकर यह शुद्ध प्रेम धारा एक-सी प्रवहमान दिखती है।

श्री राजबहादुर लमगोड़ाजी मानस के पुष्पवाटिका-प्रसंग का शीर्षक 'प्रेम डगरिया मिथिला नगरिया' देते हैं। उनके अनुसार यह पुष्प-वाटिका कामदेव की निजी वाटिका है। वसंत इसकी रखवाली को नियुक्त है। दो राजकुमार चोरी की नीयत से इसमें प्रवेश करते हैं। इधर-उधर देखकर वे 'दलफूल' के साथ मन भी चुराने लगते हैं। एक सखी को इन्होंने घायल भी कर दिया। उसकी गुहार सुनकर कामदेव सेना-नायिका को भेजते हैं। प्रथम तो उसके शास्त्रास्त्रों की झनकार से ही राजकुमार आहत (सराहत) होते हैं। फिर सेनानायिका उसे (एक राजकुमार को) नेत्रबाणों से घायल कर कैद कर लेती है और अपने साथ ले जाती है। मिथिला में जाकर उसे धनुर्भंग करने का दण्ड दिया जाता है। इत्यादि।

संदर्भ-संकेत

1. शृंगं हि मन्मथोदभेदस्तदागमनहेतुकः।
उत्तमप्रकृतिप्रायो रसः शृंगार इष्यते॥

सा.द. 3/183

2. श्रवणाद्दर्शनाद्वापि मिथः संरूढरागयोः।
दशाविशेषो योऽप्राप्तौ पूर्वरागः स उच्यते॥

सा.द. 3/188

3. रामचरितमानस 1/227/3-8
4. तदेव 1/228/4
5. तदेव 1/230/1-2
6. तदेव 1/247/7-247
7. तदेव 1/231/4
8. तदेव 1/233/1-233
9. तदेव 1/234/4
10. तदेव 1/257/4
11. तदेव 1/257/5
12. तदेव 1/257/7-8
13. तदेव 1/257
14. मेघदूत (कालिदास) पूर्वमेघ 4
15. 1/259/6 तुलनीय- तीर्थकान्तेऽभीष्टदेवे गुरौ
मन्त्रेऽथ चौषधे।
आस्था च यादृशी यासां सिद्धिस्तास्यां हि तादृशी॥
-ब्रह्मवैवर्त पुराण, श्रीकृष्ण 39/32
16. कमठपृष्ठकठोरमिदं धनुर्मधुरमूर्त्तिरसौ रघुनन्दनः।
कथमधिज्यमनेन विधीयतामहह तात प्रणस्तव
दारुणः॥ हनुमन्नाटक 1/9
17. रामचरितमानस 1/231/7-8
18. तदेव 1/234/6
19. तदेव 1/235/8
20. तदेव 1/237/4
21. तदेव 1/238/4

सम्पर्क

अवकाश-निशांत, चम्हेड़ा
पो.- ओरियावाँ, भाया एकंगर सराय
नालन्दा- 801301



हस्ती मिटती नहीं हमारी

▣ डॉ. एस. एन. पी. सिन्हा

भारत एक धर्म, एक संस्कृति का देश नहीं। यह मिली-जुली धर्म-संस्कृतियों का एक ऐसा देश है, जहाँ महामानवता सर्वोपरि है। बाह्य आक्रमणकारियों ने इसे यदा कदा डिगाने का निष्फल प्रयत्न किया। पर, 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के पुजारी हम सभी भारतीय सदैव एक रहे हैं। इसी भावना पर प्रकाश डाल रहे हैं सुधी विद्वान् डॉ. एस. एन. पी. सिन्हा।

सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः
की उदात्त विचारधारा भारतीय संस्कृति और जीवन-पद्धति की विशेषता रही है। इसीके फलस्वरूप विश्वभर में विचरण करते हुए भारतीय मनीषियों ने 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का अमर जयघोष कर मानव मात्र को स्व-स्व चरित्र की शिक्षा प्रदान की थी।

“एतद्देशप्रसतूस्य सकाशादग्रजन्मनः।

स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवः॥”

इतिहास साक्षी है कि सभी प्राणियों के सुख की कामना करनेवाले हमारे पूर्वजों ने कहीं भी सत्ता की प्राप्ति का लक्ष्य रखकर आक्रमण नहीं किया। यदि कहीं संघर्ष की स्थिति आयी तो लक्ष्य रहा सज्जनों का परित्राण और दुष्टों का विनाश। इसके अतिरिक्त जहाँ कहीं वे गये, वहाँ अपने सद्विचार, सदाचरण, सद्व्यवहार और ज्ञान के बल पर भाई चारे, 'जीओ और जीने दो' की संस्कृति का परचम लहराया; न कि सत्ता के मद में आक्रमण किया। धर्म की स्थापना ही ध्येय रहा। सम्राट् अशोक ने पुत्र महेन्द्र को सेना लेकर युद्ध करने के लिए नहीं बल्कि बोधिवृक्ष की शाखा लेकर शान्ति, सद्भावना, करुणा और मैत्री का संदेश लेकर लंका भेजा था।

बृहत्तर भारत के देशों में आज भी भारतीय संस्कृति के गरिमामय अवशेष के प्रमाण हैं। सत्य तो यह है कि भारतीय संस्कृति की सुदीर्घ यात्रा विश्व-कल्याण और मानव कल्याण की भावना सदैव सक्रिय रही है। इस तरह व्यक्ति की अपेक्षा समष्टि को, देश के साथ सम्पूर्ण विश्व को प्रधानता दी गयी है। इसकी दृष्टि 'भूमा संस्कृति' की रही है।

“जय जय भारत-भूमि-भवानी” से अभिनन्दित भारत सचमुच 'महत्तम शिवत्व' का देश है। यह राष्ट्रकवि गुप्त द्वारा अभिनन्दित है। भारत सतत प्रकाशपुंज है, प्राग् ज्योति प्रज्वलित देश है। प्रथम ज्ञानपुंज यहीं से प्रस्फुटित हुआ, जो विश्व भर में फैला।

भारत एक 'देश' या एक 'भू-खण्ड' भर नहीं है; केवल एक भौगोलिक इकाई भी नहीं; वल्कि यह एक दृष्टिकोण है- एक विश्व-दृष्टि है, एक विभावना है और एक मूल्य दर्शन है। मानवता से परिपूर्ण देश है।

अतीत गवाह है कि भारत को आक्रान्त करने कितने लोग आये। यूनानी, शक, हूण आदि अनगिनत विदेशियों की दृष्टि यहाँ की सम्पदा पर

पड़ी। उन्होंने आक्रमण किया, आंशिक रूप से सफल भी हुए किन्तु उनके साथ आये विदेशी सैनिक यहाँ की सरजमीन और आबोहबा पर रीझकर यहीं बस गये। भारत की उदार संस्कृति में वे इस तरह समा गये जैसे गंगा में सभी नदियाँ समाकर गंगा बन जाती है। कोई भेद भाव नहीं। सब एक... संस्कृति एक... सभ्यता एक। भारत वैसा ही रहा।

इतिहास गवाह है कि भारत को अनेक आक्रमणकारियों ने लूटा खसोटा। फिर भी भारत शान्ति-गीत गाता रहा। हम उसी 'बसुधैव कुटुम्बकम्' का सन्देश देते रहे और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को 'करामलकवत्' मानते रहे, देखते रहे। अंग्रेजी हुकूमत ने भी हमें बहुत तोड़ने का प्रयत्न किया। जाति-भेद, स्थान-भेद का विष घोल कर वे राज करते रहे। पर हमारी एकता की भावना जो भीतर समायी हुई थी वह स्वतंत्र होते ही उमड़ आयी। 526 रियासतों में बँटा भारत फिर एक हो उठा। रंग-बिरंगे फूलों से सजी क्यारियाँ जिस तरह एक बाग कहलाती है वैसे ही हम फिर से महकने लगे, चहकने लगे। अखण्डता की ओर हमारा यह प्रयास था।

भारत की नियति-

'भारत की स्वतंत्रता पूर्णत्व की दिशा में एक कदम है।' अरविंद का यह सोच ही भारत की आजादी को महत्व देने का कारण था। 'आध्यात्मिक और नैतिक उद्देश्यों को आगे बढ़ा सकने की सर्वाधिक क्षमता भारत में ही है।' भारत की सभ्यता हमेशा आध्यात्मिक रूप से विशिष्ट रही है। यह 'हमेशा आध्यात्मिक और नैतिकता प्रधान रही है।' इस प्रकार भारत की सामाजिक संस्थाओं की बुनियाद आध्यात्मिक है। उसमें भौतिक तत्व और भौतिक विचार अध्यात्म और नैतिकता के अधीन हैं। भारतीय विद्वानों में आध्यात्मिक तत्व थे, अतः सिर्फ भारत ही विश्व

के आध्यात्मिकरण का कार्य सम्पन्न कर सकता है, क्योंकि केवल वह ही स्वभावतः आध्यात्मिक है।

'हम हिंदू हैं और स्वभावतः हमारा दृष्टिकोण आध्यात्मिक है, क्योंकि मानवता के लिए हमें जो करना है वह ऐसा कार्य है जिसे कोई दूसरा राष्ट्र नहीं कर सकता... यह कार्य है मानव जाति का आध्यात्मिकरण...

'ईश्वर ने पृथक्कृत: भारत में ही पवित्र आध्यात्मिकता का शाश्वत उद्गम निर्मित किया है और वह कभी नहीं चाहेगा कि यह उद्गम सूख जाये। विश्व का मार्गदर्शन और परिवर्तन करना भारत की नियति है।

'भारत राष्ट्रों का गुरु है। नियति ने फिर एक बार उसे विश्व-जीवन में नये परिवर्तन तथा मानव आत्मा की शांति के संरक्षण का दायित्व सौंपा है।

यह भारत ही है जो समूचे विश्व के लिए भविष्य के धर्म का मूल होगा, वह शाश्वत धर्म होगा- जिसमें सभी धर्मों, विज्ञान और दर्शनों का एकत्व होगा और मानव जाति को एकात्म करेगा।

यहीं कारण है कि हमारी हस्ती कभी नहीं मिटती। हमारी अध्यात्म-दृष्टि जिससे हम दुःख के समय संबल पाते हैं और सुख में संयम... हमें चारों ओर से घेर कर हमारी रक्षा करती है। वह हमें टूटने नहीं देती... विखरने नहीं देती। इस दृष्टि को हमें बचाना होगा।

जर्मन विद्वान् मैक्समूलर को भारत की संस्कृति का सर्वेक्षण करने के लिए यहाँ भेजा गया। उसने वैदिक साहित्य का अनुवाद किया, विश्लेषण किया। भारत में अंग्रेजी शासन को सुदृढ़ करने के लिए उपाय खोजना उसके सर्वेक्षण का उद्देश्य था, किन्तु मैक्समूलर भी यहाँ के रंग में रँग गया। "लाली देखन मैं गई मैं भी हो गई लाल।" बिहारी की यह वाणी चरितार्थ हुई। कृष्ण को देखने गोपियाँ आयीं तो वे भी कृष्ण के आकर्षण में लाल हो गयीं। भारत को देखने मैक्समूलर आया तो उसे कहना पड़ा :-

“अगर मुझसे पूछा जाए कि किस देश के आकाश के नीचे मानवीय मस्तिष्क का अनुपम विकास हुआ है, जीवन की महानतम समस्याओं पर सर्वाधिक विचार और मनन हुआ है और उनका हल भी निकला है, तो मैं कहूँगा कि वह भारत है।

मेरा विश्वास है कि वर्ण-विन्यास का कोई भी विशेषज्ञ मेरी इस बात का खण्डन नहीं करेगा कि पाँचवीं शती ई.पू. के भारतीय वर्ण-विन्यासज्ञों को भाषा-तत्त्वों के विश्लेषण के मामले में आज तक कोई मात नहीं दे सका है।”

मैक्समूलर के शिष्य मैकडानल ने भी इन शब्दों में भारत की महिमा गायी थी:-

भारतीय साहित्य एवं संस्कृति का महत्त्व उनकी मौलिकता में है। जब यूनानियों ने ईसा के चार सौ वर्ष पूर्व उत्तर-पश्चिम में आक्रमण किये तब तक भारतीयों ने अपनी संस्कृति स्थिर कर ली थी। फारसी, यूनानियों, सीशियन और मुसलमानों के एक बाद दूसरे और निरंतर आक्रमणों और विजयों के बावजूद भारतीय आर्यों के जीवन और साहित्य का विकास अप्रतिहत गति से चलता रहा। संसार की कोई भी जाति इस प्रकार तीन-चार हजार वर्षों तक निरंतर धर्म, साहित्य और संस्कृति के विकास का दावा नहीं कर सकती।

‘हिस्ट्री ऑव संस्कृत लिटरेचर’- प्रो. मैकडानल)

रोम्यों रोला के शब्दों में भी:-

मनुष्य ने जब से अस्तित्व का प्रश्न देखा है, आदिमकाल से लेकर आज तक उसके जितने भी सपने हैं, उन सभी को यदि पृथ्वी के किसी एक स्थान पर आश्रय मिला है तो वह भारतवर्ष है।... तीन हजार वर्षों से अधिक समय से इसकी गरम मिट्टी से दिव्यदृष्टि का विशाल महातरु विकसित हुआ है। हजारों शाखाओं तथा करोड़ों प्रशाखाओं के रूप में उसने अपना विस्तार किया है और ये सभी जटिल शाखाएँ-प्रशाखाएँ, जिनके अंदर एक ही प्राणरस प्रवाहित हो रहा है, उनके सार-तत्त्व और विचार आपस में धनिष्ठ रूप से जुड़े हैं।

राष्ट्रकवि दिनकर ने उचित ही परिभाषित किया है-

“किसको नमन करूँ मैं भारत। किसको नमन करूँ मैं भू के मानचित्र पर अंकित त्रिभुज यही क्या तू है? नर-के नभश्चरण ही दृढ़ कल्पना नहीं क्या तू है? भेदों का ज्ञाता, निगूढ़ताओं का चिरज्ञानी है, मेरे प्यारे देश नहीं तू पत्थर है पानी है। भारत नहीं स्थान का वाचक, गुण विशेष नर का है, एक देश का नहीं, शील यह भू-मंडल भर का है। जहाँ कहीं एकता अखंडित, वहाँ प्रेम का स्वर है, देश-देश में वहाँ खड़ा भारत जीवित भास्वर है। उठे जहाँ भी घोष शान्ति का, भारत स्वर तेरा है। धर्म दीप हो जिसके कर में, वह नर तेरा है। मानवता के इस ललाट-चन्दन को नमन करूँ मैं। किसको नमन करूँ भारत! किसको नमन करूँ॥

इसलिए कवियों और लेखक मनीषीओं ने इसे कहा- “इंडिया इज नोट ए कन्ट्री, इट इज ए पर्स्पेक्टिव।”

भारत एक ‘आध्यत्मिक संस्कृति’ का देश है। अतः यह ‘चिन्मय भारत’ है, जिसकी दृष्टि चिंतन वैश्विक है।- सामंजस्य से ओतप्रोत, ऋत-सत्, प्रज्ञा मित्र भाव, सत् चित् आनन्द-भाव भरा, शांतिप्रियता और पंचशील गुण सम्पन्न देश है। कभी नहीं मिटनेवाला- क्योंकि सत्य प्रकाश पुंज देश है।

प्राचीन भारत के विस्तार और प्राचीन भारत की महिमा-गरिमा को भारत के इतिहासकार ही नहीं- भारत के गौर-इतिहासकारों ने भी स्वीकार किया है। कवि, चिंतक, साहित्य सृजनकार इसकी महिमा-गरिमा गाते थकते नहीं हैं, भारत के नाद थे व्यास, वाल्मीकि, कालिदास आदि। इन सबों ने इसकी असीमित विस्तार की गाथा गायी- पवित्रता तो इतनी कि इसकी मिट्टी, जल, वायु का नमन करते थे और पवित्रता से हृदय शुद्ध और पवित्र होता था। देवता भी यहाँ जन्म लेने की कामना करते थे- क्योंकि यह मोक्ष-भूमि है, मुक्ति-धाम है।

यह देश तो अनूठा है- मंत्र दृष्टा ऋषिवत् कवि का यह उद्घोष है:- ‘अरुण यह मधुमय देश हमारा, जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा।’

बी. 92, पी.सी. कॉलोनी, लोहियानगर, पटना-20



मण्डन मिश्र की दृष्टि में कर्म एवं ज्ञान के बीच सम्बन्ध

▣ भवनाथ झा

सभ्यता के विकास के प्रत्येक चरण में अग्नि के साथ हमारा अटूट सम्बन्ध रहा है। जब ग्रामों और नगरों

की संस्कृति स्थापित हुई तो अग्नि के संरक्षण की आवश्यकता हुई। घर के पूर्व दक्षिण कोण में, जहाँ दिनभर सूर्य की किरण पड़ने के कारण नमी सबसे कम रहती थी, वहाँ अग्नि को संरक्षित किया गया और हमारे पूर्वजों ने उसकी रक्षा करने में अपनी पूरी ऊर्जा झोंक दी। ये अग्निदेव हुए, जो परिवार के आधार बने, परिवार की ईकाई के आधार बने, सभ्यता के विकास के आधार बने। घर का पूर्व दक्षिण कोण अग्निकोण इसलिए कहलाया, क्योंकि घर के इसी कोण में अग्निदेव की स्थापना होती रही, साथ ही यह घर का सबसे पवित्र स्थल कहलाया

क्योंकि उसी कोने में हमारे पूर्वज देवताओं के निमित्त आहुतियाँ देते रहे। घर में अग्निकोण को देवता-स्थल मानने की परम्परा आज भी मिथिला में विद्यमान है, जबकि अन्य क्षेत्रों के वास्तुशास्त्र की परम्परा पूर्व-उत्तर कोण को देवस्थल कहती है। मिथिला में आज भी अग्निकोण का महत्त्व उसी आदिकालीन वैदिक परम्परा का प्रतीक है।

मानव सभ्यता में परिवार की स्थापना होने के

साथ ही पूरी दिनचर्या उसी स्थापित अग्नि के चारों ओर घूमती रही। अग्नि को

प्रज्वलित रखने के लिए समिधा चाहिए, ज्वलनशील तरल पदार्थ घृत चाहिए, इसी अग्नि पर भोजन पकाकर हमारे पूर्वज खाते थे। चरुपाक एवं चरुप्राशन, अन्न, पेय आदि का संस्कार कर उसे खाद्य बनाने के लिए जितने साधन थे, चमस, ओखल, मूसल, सूर्प, दर्वी आदि सभी गृह्यसूत्रों में परिवार के उपकरण नहीं, यज्ञ के उपकरण के रूप में उक्त हैं। परिवार=यज्ञ, यह समीकरण मानव के विकास का वह चरण है, जब हमारे पूर्वज खानाबदोश की संस्कृति को छोड़कर एक स्थान पर बसने लगे थे, बाद में कृषि-संस्कृति विकसित हुई थी और

इसी विकास के दौर में अग्नि हमारे देव बने। 'देव' शब्द का अर्थ है- दीप्त, द्योतित।

इस प्रकार यज्ञ विकसित मनुष्य की आदिम पारिवारिक दिनचर्या है, वही कर्म है, पुरुषार्थप्राप्ति का साधन है। इसी अग्नि के निकट हमारे पूर्वजों ने वेदों की रचना की, भाषा का विकास किया पश्चात् सभ्यता उत्तरोत्तर विकसित हुई।

अग्नि हमारी सभ्यता के प्राचीनतम देवों में एक हैं। परिवार, ग्राम, नगर, संस्कृति के संरक्षण हेतु हमारी यज्ञाहुतियों के प्रथम अधिकारी यही देव हैं। वास्तु-शास्त्र में पाकशाला (रसोईघर) की व्यवस्था इसी कारण अग्निकोण में ही संदिष्ट है। यज्ञ, यजन, याजन हम आर्यों, सनातनियों के पवित्र कर्म हैं। मिथिला के अद्वितीय दार्शनिक, चोटी के संस्कृत विद्वान् मंडन मिश्र ने अपने 'ब्रह्मसिद्धि' नामक वेदान्त विषयक प्रसिद्ध ग्रन्थ में 'कर्म (कर्मकाण्ड) एवं ज्ञान (ब्रह्मविषयक ज्ञान) के बीच सम्बन्ध की नवीन व्याख्या की है। इनके (मण्डन मिश्र) इसी सोच को सरल भाषा में यहाँ प्रस्तुत किया गया है।

इसी यज्ञ से सम्बद्ध मन्त्रों और विधियों से सम्बद्ध मन्त्रों और वाक्यों का सम्पादन यजुर्वेद के रूप में हुआ, जिसकी माध्यन्दिन शाखा की परम्परा मिथिला में याज्ञवल्क्य से चली। इसमें 40 अध्याय हैं जिनमें 39 यज्ञ-कर्म से सम्बद्ध हैं और अन्तिम अध्याय ज्ञान से सम्बद्ध। ईशावास्योपनिषद् के नाम से केवल 17 मन्त्रों का जो अध्याय है, वही वेद का अन्तिम भाग 'वेदान्त' है, ज्ञानकाण्ड है। याज्ञवल्क्य ने मिथिला में ही शतपथब्राह्मण की रचना की। इसमें 14 काण्ड हैं, अन्तिम काण्ड 'बृहदारण्यकोपनिषद्' है। वह 'अरण्य' में की गयी विचार-गोष्ठी का प्रतिपादन है, ज्ञानकाण्ड है।

जो गृहस्थ थे, उनके ऊपर विशेष दायित्व था। छोटे बच्चों का भरण-पोषण, सामाजिक सम्बन्धों की रक्षा, वंश की रक्षा आदि का भार उनके ऊपर ही था। फलतः उनकी अनेक कामना थी। फलतः वे पुत्रकाम, पशुकाम आदि यज्ञों की ओर प्रवृत्त हुए, कर्म बना। गृहस्थ=यज्ञ=अग्नि=कामना यह समीकरण बना। उस समय गार्हस्थ्य और वानप्रस्थ में बहुत अधिक अन्तर नहीं था।

सभ्यता के उत्तरोत्तर विकास के साथ-साथ जटिलता भी बढ़ती गयी। गृहस्थों के बीच आवश्यकताएँ बढ़ीं फलतः दिनचर्या व्यस्त रहने लगी। प्रत्येक व्यक्ति अपनी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए समय निकालने में असमर्थ सिद्ध होने लगा। फलतः एक व्यक्ति=एक मुख्य कार्य, शेष गौणकार्य की अवधारणा पनपी। गृहस्थ ब्राह्मणों ने यजन, याजन, अध्ययन, अध्यापन को अपनाया। गृहस्थ थे, अतः दान करते थे और खेती करना छोड़ चुके थे स्वामित्व नहीं था। अतः अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए दान लेते भी थे। इस प्रकार वे षट्कर्मी बने। मानव मात्र में देवताओं के प्रति श्रद्धा थी, आस्था थी और देव-कृपा से सुख प्राप्ति की अभिलाषा थी, फलतः ब्राह्मण श्रद्धास्पद बने, क्योंकि वे यज्ञ करते थे। फलतः गृहस्थ ब्राह्मण=यज्ञ का समीकरण बना।

इस यज्ञ में पशुओं के प्रत्येक अंग से आहुति देने का विधान था, किन्तु याज्ञवल्क्य ने इसके विकल्प में

अन्नमय पशु का विधान किया। तथापि सद्यः मांस से आहुति की परम्परा विद्यमान रही। फलतः गृहस्थ ब्राह्मण=यज्ञ=पशुहिंसा यह समीकरण बना।

क्रमिक विकास के साथ साथ वैष्णवों, जैनियों और बौद्धों ने हिंसा का विरोध किया, याज्ञिक गृहस्थ ब्राह्मण उनके निशाने पर पड़े। इसी काल में अग्नि तथा गार्हस्थ्य जीवन का भी तिरस्कार हुआ।

इसी वैदिक एवं वैदिकेतर परम्परा की पृष्ठभूमि में आचार्य मण्डन ने सर्वत्र मिथिला की कर्मवाद परम्परा की पुष्टि की है। 'ब्रह्मसिद्धि' के 'ब्रह्मकाण्ड' में कर्म और ज्ञान के सम्बन्ध की पूर्ण व्याख्या की गयी है।

'ब्रह्मसिद्धि' में प्रश्न उठाया गया है कि यजुर्वेद के जो दो भाग हैं— उनचालीस अध्यायों का कर्मकाण्ड और एक अध्याय ज्ञानकाण्ड, ये दोनों एक कार्य की सिद्धि करते हैं या पृथक् कार्य की सिद्धि करते हैं। इस प्रश्न पर उन्होंने दो तर्क उपस्थापित किये हैं कि कर्म का फल स्वर्ग है और ज्ञान का फल ब्रह्मप्राप्ति है अतः कर्म और ज्ञान अलग-अलग कार्य के साधक हैं। दूसरा पक्ष है कि कर्म और ज्ञान दोनों ब्रह्मप्राप्ति के ही साधन हैं।

इसी स्थल पर कर्म और ज्ञान के बीच सम्बन्ध पर विचार किया गया है। इस प्रसंग में मण्डन मिश्र ने सात पक्षों को उपस्थापित किया है—

कुछ दार्शनिकों का पक्ष है कि यज्ञ, पूजा-पाठ आदि कर्म करने से सांसारिक विषय-भोग के प्रति आसक्ति से छुटकारा मिल जाता है और यजमान शान्त चित्त हो जाता है, उसकी शारीरिक क्रियाएँ नियमित हो जाती हैं, जिससे वह शान्त, दान्त और समाहित चित्त होकर आत्मज्ञान का अधिकारी हो जाता है। अतः यज्ञादि कर्म करने से स्वर्गादि प्रतिपादित फल की प्राप्ति हो या न हो, वह आत्मज्ञान का अधिकारी हो जाता है। इस पक्ष में कर्म और ज्ञान को एकाधिकार अर्थात् ब्रह्मप्राप्ति रूप एक कार्य का साधक माना गया है। 'ब्रह्मसिद्धि' के भाष्य 'भावशुद्धि' में यह ब्रह्मदत्त के मत के रूप में उपस्थापित है।

इस पक्ष का खण्डन करते हुए मण्डन मिश्र कहते हैं कि स्वर्गादि प्राप्ति के लिए किये गये कर्म से कर्ता को अन्य फल की अपेक्षा नहीं रहती है वह तो एकचित्त होकर स्वर्ग की कामना करता है इसी प्रकार आत्मज्ञान के जो साधन हैं उसमें यज्ञ-विधि की अपेक्षा नहीं होती है, वह ब्रह्मचर्य आदि से सिद्ध हो जाता है।

अतः कर्म को ज्ञानप्राप्ति के मार्ग में एक साधन नहीं माना जा सकता है—

**न हि कर्मादिविधयः स्ववाक्य-
समधिगत-स्वर्गादि-कार्याः कार्यान्तरमपेक्षन्ते
नाप्यात्मज्ञान-विधिर्धर्मोदित - ब्रह्मचर्यादि
साधन-निराकाङ्क्षः कर्मविधीनपेक्षते। तत्र कुत
एकाधिकारत्वम्।**

यहाँ एक शंका की जा सकती है कि कर्मविधि का वाक्य है— **स्वर्गकामो यजेत**। अर्थात् स्वर्ग की कामना जो करते हैं, वे यज्ञ करें। यहाँ स्वर्गप्राप्ति याजन रूप कर्म के फल के रूप में नहीं कहा गया है। स्वर्ग तो 'पुरुष' का एक विशेषण मात्र है किन्तु आत्मज्ञान के वाक्य में फल के रूप में कैवल्य स्पष्ट है अतः कर्मविधि और ज्ञान विधि दोनों का फल कैवल्य ही है और कर्मविधि ज्ञानविधि का साधन है।

इस शंका का निवारण करते हुए मण्डन मिश्र कहते हैं कि **'स्वर्गकामो यजेत'** का अर्थ नहीं समझने के कारण ऐसी आशंका उठ सकती है कि इस वाक्य में स्वर्ग का कथन फल के रूप में उक्त नहीं है। ऐसे अज्ञानी को पहले जैमिनीय सूत्र के 'स्वर्गकामाधिकरण' की व्याख्या पढ़नी चाहिए— **'स्वर्गकामाधिकरणमस्मै व्याचक्षीत'**।

दूसरी शंका होती है कि नाम-रूपात्मक प्रपञ्च तो नश्वर है जबकि ब्रह्म शाश्वत है। इस प्रकार अग्निहोत्रादि का फल स्वर्ग और प्राणिघातादि का फल नरक, इन दोनों के नश्वर होने के कारण हमें मान लेना चाहिए कि विधिशास्त्र और निषेध शास्त्र का परिणाम मोक्ष है और स्वर्ग एवं नरक आकस्मिक हैं अर्थात् अकारण हैं। मण्डन मिश्र ने इस आक्षेप का निराकरण किया है कि यह मान

लें कि सब कुछ नश्वर है तब मोक्ष भी आकस्मिक ही हो जाएगा और सभी विधिनिषेधशास्त्र व्यर्थ हो जाएँगे।

कर्म को ज्ञान का सहकारी मानने वाले दार्शनिकों का एक पक्ष यह है कि जैसा उपदेष्टा गन्तव्य ज्ञान का पता बतलाते हुए अनेक गाँवों को क्रमशः गन्तव्य बतलाता है, उसी प्रकार मुख्य लक्ष्य तो ब्रह्म-प्राप्ति है किन्तु इसके मार्ग में आपतित स्वर्ग आदि को भी अभीष्ट फल वेदवाक्य में कह दिया गया है। इस पक्ष का निराकरण करते हुए मण्डन मिश्र कहते हैं कि उपर्युक्त दृष्टान्त में गन्तव्य मार्ग में आपतित स्थान तक पहुँचने पर भी यात्री की आकांक्षा बनी रहती है अतः उसे प्रयोजन की प्राप्ति नहीं होती है, किन्तु यज्ञादि कर्म से स्वर्गादि प्राप्त होते ही कर्ता को पुरुषार्थ की प्राप्ति हो जाती है और वह निराकांक्ष हो जाता है अतः कर्मविधि का कार्य ब्रह्मज्ञान नहीं है।

उत्तरोत्तर-ग्राम-गमन के इस दृष्टान्त पर विशेष विमर्श करते हुए एक पूर्वपक्ष में कहा गया है कि यदि यह कहा जाये कि यात्रा के क्रम में एक ग्राम मिलेगा जहाँ दूध मिलेगा, अगले ग्राम में फल मिलेगा फिर आगे मिठाई मिलेगी। ऐसी स्थिति में तो प्रत्येक ग्राम में फल की प्राप्ति होती ही जाएगी। इसी प्रकार ब्रह्मप्राप्ति के मार्ग में स्वर्गादि फल का भी कथन किया गया है।

यह पक्ष भी मण्डन मिश्र को स्वीकार्य नहीं है। वे कहते हैं कि प्रत्येक गाँव में जाकर फल प्राप्त कर भी यात्री की आकांक्षा की निवृत्ति नहीं होती है इसलिए वह अगले ग्राम के लिए चल देता है, किन्तु यहाँ स्वर्ग मिलते ही यजमान सन्तुष्ट हो जाता है वह निराकांक्ष हो जाता है। साथ ही, फलप्राप्तिपूर्वक उत्तरोत्तर ग्रामाभिगमन वाले दृष्टान्त में यात्री जब अन्तिम ग्राम पहुँच जाता है और वहाँ विशिष्ट फल की प्राप्ति हो जाती है, तब वह प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा जानता है कि इस फल की प्राप्ति के लिए हमें बहला-फुसला कर अमुक मार्ग से भेजा गया था। अतः इस दृष्टान्त में यह बोध प्रत्यक्ष प्रमाण का फल है, शाब्द प्रमाण का नहीं। यहाँ तो वेदवाक्यों के शाब्द-प्रामाण्य का प्रसंग है। यहाँ तीसरा दोष यह है कि मार्ग के ग्रामों में जब

फलों की प्राप्ति होती जाती है तो साथ चलने वाले उदासीन यह समझते जाते हैं कि इसी फल के लिए हमें इस गाँव में जाने के लिए कहा गया था और अन्तिम गन्तव्य स्थान पर पहुँचने पर जिस फल की प्राप्ति होती है उसी फल के लिए उस स्थान को मान लेता है। उसे कभी इस बात का बोध नहीं होता है कि गन्तव्य स्थान पर पहुँचने के निमित्त हमें विभिन्न ग्रामों से होकर गुजरने का उपदेश किया गया था।

यद्यपि यह ठीक है कि पूर्व में प्रदर्शित गाँवों में जाना आगे के ग्रामों में गमन करने के लिए उपकारक है, किन्तु वहाँ प्रत्यक्ष फल की प्राप्ति होने पर उपकार्योपकारकता का बोध होता है। यह बोध प्रत्यक्ष के कारण होता है शब्द के कारण नहीं। और भी, उपकार्योपकारकता का बोध होने पर भी हम कर्म को अवच्छेदकावच्छेदेन (सभी रूपों में) ज्ञान का उपकारक नहीं मान सकते हैं। जैसे यजन, अध्यापन आदि के द्वारा अर्जित धन यज्ञ का उपकारक होता है। उस धन के बिना यज्ञ सम्भव नहीं है तथापि उस धन का आंशिक उपयोग ही यज्ञ के लिए होता है अतः हम यजनादि का फल यज्ञ को नहीं मान सकते हैं। उसी प्रकार कर्मविधि को यदि ज्ञानविधि के लिए आंशिक रूप से उपकारक माना जाए तो कोई आपत्ति नहीं, किन्तु समग्रतया कर्म को ज्ञान का उपकारक नहीं माना जा सकता है।

उत्तरोत्तर ग्राम होते हुए नगर गमन के इस दृष्टान्त में यदि मान लें कि प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा भी यदि बोध होता है कि प्रत्येक गाँव में जाने का उपदेश नगर-गमन के उद्देश्य से किया गया है, तब भी कर्मविधि को ज्ञानविधि का प्रयोजक माना जा सकता है। यहाँ मण्डन मिश्र ने कहा है कि ऐसा सम्भव है कि प्रत्यक्ष प्रमाण से ही हम ऐसा मान लें, किन्तु कर्म करने से तो फल की प्रत्यक्ष प्राप्ति नहीं होती है, उस फल की प्रतिपत्ति केवल शब्द प्रामाण्य से होती है, अतः वैदिक कर्म विधि एवं ज्ञान विधि के प्रसंग में प्रत्यक्ष प्रमाण की चर्चा ही व्यर्थ है। अतः यह कहना कि प्रत्यक्ष प्रमाण से कर्मविधि ज्ञान विधि का उपकारक है, यह उचित नहीं।

इस पक्ष के खण्डन में एक और तर्क है कि यात्री यदि यह मानकर चले कि हमें नगर पहुँचाने के उद्देश्य से इन ग्रामों से होकर गुजरने का उपदेश किया गया है, तब वह उन उन ग्रामों में मिलनेवाले फलों के प्रति उदासीन हो जाएगा और या तो कहने पर भी उन उन ग्रामों से होकर यात्रा नहीं करेगा या गुरु आदि के आदेश के प्रभाव से चला भी जाए तो उन्हें मधुर आदि फलों की प्राप्ति नहीं होगी। वे मधुरादि फल अर्थवाद मात्र हो जायेंगे और अर्थवाद की प्राप्ति नहीं होती है। तब वेद के विधि और निषेध वाक्यों का फल केवल मोक्ष माना जाए तो अभ्युदय और पतन अकारण हो जायेंगे। अतः विधि-निषेध । स्वरूप कर्मकाण्ड का फल स्वर्ग-नरक आदि हैं मोक्ष नहीं।

यहाँ मण्डन मिश्र अभ्युदय आदि की आकस्मिकता पर विचार करते हुए पुनः कहते हैं कि यज्ञ में प्रयाज और अनुयाज याग प्रधान यज्ञ के अंग हैं और उपकारक हैं फिर भी दोनों के पृथक् पृथक् फल कहे गये हैं। इसी प्रकार यदि हम यह भी मान लें कि कर्मविधि भी ब्रह्म-प्राप्ति के उपकारक अंग रूप हैं तो अभ्युदयादि अकारण नहीं रहेंगे। किन्तु यह पक्ष भी उचित नहीं। प्रयाजादि के जो फल हैं, वे स्वतन्त्र रूप से पुरुषार्थ नहीं हैं। अतः वे प्रधान याग के अंगस्वरूप होकर प्रधान याग की ओर प्रेरित करते हैं, किन्तु कर्म के फल पुरुषार्थ हैं अतः वे क्यों दूसरे पुरुषार्थ की ओर प्रेरित करेंगे? अतः कर्म विधि और ज्ञान विधि में एकाधिकार नहीं है।

यदि यह भी कहा जाए कि यज्ञादि कर्म से सांसारिक प्रवृत्ति का निवारण हो जाता है तब यजमान शान्त, दान्त और समाहित चित्त होकर आत्मज्ञान का अधि कारी हो जाता है, तो यह भी संगत नहीं। “मा हिंस्यात् सर्वभूतानि” इस निषेध वाक्य से भले हिंसा की प्रवृत्ति समाप्त हो जाए किन्तु ‘अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम’ इत्यादि विधिवाक्य से प्रवृत्ति ही होगी। फलतः वह शान्त, दान्त और समाहित चित्त नहीं हो सकेगा।

यदि कर्मविधि से सांसारिक-प्रवृत्ति-निरोध के

समर्थन में कहा जाये कि मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति भी सुख के लिए होती है और वैदिक कर्मों की प्रवृत्ति भी सुख के लिए होती है। अतः दोनों का अनुष्ठान एक साथ होने पर दोनों में विरोध उत्पन्न होगा और वैदिक कर्मविधि से अनुष्ठान करने पर स्वाभाविक रागादिजन्य कर्मों की निवृत्ति हो जाएगी। यह मत मण्डन को अभीष्ट नहीं। वे कहते हैं कि दोनों कर्मों के फल एककालिक नहीं हैं, अतः वे दृष्टार्थ हैं किन्तु वैदिक कर्मविधि का फल अनियत कालिक एवं अदृष्ट है। इस प्रकार दोनों के बीच कोई विरोध नहीं होगा और वैदिक कर्मों से रागादिजन्य कर्मों की निवृत्ति नहीं होगी। इसका दृष्टान्त देते हुए मण्डन मिश्र कहते हैं कि **“सांग्रहिण्या यजेत ग्रामकामः”** इस श्रुति से ग्राम प्राप्ति के लिए सांग्रहिणी याग का विधान है। साथ ही, लोक में राजा की सेवा से भी ग्राम-प्राप्ति हो जाती है किन्तु वैदिक सांग्रहिणी याग के साथ राजा की सेवा का कोई विरोध नहीं होता है।

दोनों कर्मों के बीच विरोध का खण्डन हुए आगे कहा गया है कि यदि वैदिक कर्म के कारण लौकिक कर्म का त्याग कर दिया जाए तो धन के अभाव में वैदिक कर्म कर पाना सम्भव नहीं होगा। और भी, वैदिक कर्म और लौकिक कर्म दोनों सुख भोग के लिए हैं अतः इनमें कोई अन्तर नहीं है। **“स्वर्गकामो ज्योतिष्टोमेन यजेत”** इस वैदिक कर्म विधि के द्वारा किया गया यज्ञ भी सुख के निमित्त ही होता है, अतः दोनों में कोई अन्तर नहीं। फलतः वैदिक कर्म करने से लौकिक कर्म की निवृत्ति होने के कारण वैदिक कर्म को ज्ञानप्राप्ति का साधन नहीं माना जा सकता है।

यदि हम यह कहें कि ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ सुखप्राप्ति के निमित्त नहीं होते, क्योंकि **‘स्वर्गकामः’** इस पद में ‘स्वर्ग’ शब्द का व्यवहार अप्रधान रूप में किया गया है और अप्रधान का अन्वय फल के साथ नहीं होता है अतः ज्योतिष्टोमादि याग सकाम कर्म नहीं है धनार्जन आदि लौकिक प्रवृत्तियाँ सकाम हैं। इसलिए दोनों में विरोध है!

यहाँ खण्डन करते हैं कि यदि ज्योतिष्टोम आदि का फल स्वर्ग नहीं माना जाए तो स्वर्ग और नरक

अकारण हो जायेंगे और तब जैमिनि-सूत्र व्यर्थ हो जायेगा।

अतः वैदिक कर्म से लौकिक कर्म का निरोध नहीं होने के कारण वैदिक कर्म ज्ञान का साधन नहीं है। इस प्रकार मण्डन मिश्र ने कर्म और ज्ञान के बीच साध्य-साधन भाव सम्बन्ध का खण्डन कर कर्म की पृथक् सत्ता का समर्थन किया है।

द्वितीय मत-

कर्म और ज्ञान के बीच सम्बन्ध को लेकर दूसरा मत है कि जिसे सांसारिक सुख की प्राप्ति नहीं हुई है उसका मन सदैव उसी ओर लगा रहता है। जिससे वह हमेशा व्याकुल रहता है, ऐसा व्यक्ति उस परम अद्वैत का दर्शन नहीं कर पाता है। अतः ज्ञान की प्राप्ति के लिए सुख-भोग आवश्यक है। सुख-भोग वैदिक कर्म से होता है अतः कर्म और ज्ञान के बीच साध्य-साधन भाव सम्बन्ध है। इस पूर्व पक्ष को स्पष्ट करते हुए मण्डन मिश्र ने ‘कठोपनिषद्’ को उद्धृत किया है-

‘यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते

कामा येऽस्य हृदि स्थिता।

अथ मर्त्याऽमृतो भवति

अत्र ब्रह्म समश्नुते।।

(कठ. 2।3।14)

अर्थात् जब हृदय में स्थित सभी कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं तब वह अमर होकर ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।

इस पक्ष का खण्डन करते हुए मण्डन मिश्र ने कहा है कि कामना की प्राप्ति से कामनाओं का नाश नहीं होता अपि तु कामना में अनित्यत्वादि दोष दिखाई पड़ने से उत्पन्न विवेक कामनाओं का नाश करने में समर्थ होता है। कामना के स्पर्श मात्रा से लोगों का मन आत्मज्ञान से भटक जाता है। यहाँ अपने पक्ष के समर्थन में मनुस्मृति को उद्धृत किया है-

‘न जातु कामः कामानामुपभोगेन शम्यति।’

अर्थात् कामनाओं के उपभोग से कामना शान्त नहीं होती हैं।

योगसूत्र-भाष्य में भी कहा गया है-

“भोगाभ्यासमनुविवर्द्धन्ते रागाः कौशलानि चेन्द्रियाणाम् ।”

अर्थात् कामनाओं के सतत उपभोग से इन्द्रियों के प्रति आसक्ति बढ़ती है। अतः कामनाओं की पूर्ति से आत्मज्ञान सम्भव नहीं है। इस प्रकार कर्म से ज्ञानाधिकार नहीं होता। यहाँ तक कि कर्मविधि का अभाव होने से लोग यज्ञ आदि सकाम कर्म नहीं कर सभी क्लेशों को नाश करनेवाले आत्मज्ञान की ओर ही प्रवृत्ति होंगे अतः कर्म और ज्ञान में व्यतिरेक है अन्वय नहीं।

दूसरी ओर आत्मज्ञान भी कामनाओं का नाश नहीं कर पाता। श्रुति कहती है कि ब्रह्म परम आनन्द स्वरूप है किन्तु उसका अनुभव तो किसी ने नहीं किया है। वह अननुभूत आनन्द सांसारिक सुख के अनुभूत आनन्द को थोड़ी भी हानि नहीं पहुँचा पाता तो समूल नष्ट करने की बात कैसे? इसलिए एकमात्र विवेक है जो कामनाओं का नाश करने में समर्थ है। कर्म विधि तो इसके विपरीत कार्य ही करती है।

मृत्यु के बाद शरीर भस्म हो जाता है और आत्मा शेष रह जाती है इस प्रकार आत्मा में ही शरीर का विलय हो जाता है- यह श्रुति कहती है। ऐसा मानकर यदि हम कहें कि **‘स्वर्गकामो यजेत’** इस कर्म विधि में स्वर्गफल प्राप्त करनेवाली आत्मा है और इस आत्मा में शरीर का विलय हो जाता है, अतः कर्म विधि ज्ञान कार साधन है यह नहीं कहा जा सकता क्योंकि **‘स्वर्गकामो यजेत’** इस कर्मविधि में शरीर का बोध होता है न कि शरीर से भिन्न आत्मा का बोध होता है।

अब यहाँ यदि कहा जाए कि ठीक है कि **‘स्वर्गकामो यजेत’** वाक्य से आत्मा का नहीं शरीर का ही बोध होता है तथापि काम आदि की प्रबलता का तो बोध होता ही है, क्योंकि कामादि की प्रबलता के कारण ही अग्निहोत्र आदि यागों के प्रति रुचि जगती है। इस प्रकार यागों के प्रयोजन से ही जानते हैं कि कर्मविधि से भी आत्मा का ज्ञान होता है। इस पक्ष के खण्डन में मण्डन मिश्र ने कहा

है कि यह कथन उपहासास्पद है। जब वेद स्पष्ट रूप से साक्षाद्भि इत्यादि बृहदारण्यकोपनिषद् 3।8।8 के द्वारा शरीर और इन्द्रियों का आत्मा में विलीन होने की बात प्रत्यक्ष रूप से कही गयी है तब ‘स्वर्गकामो यजेत’ इस कर्मविधि वाक्य के द्वारा अनुमान से आत्मा में देहादि के विलय होने की बात क्यों करें?

जब सामने हाथी दिखाई पड़ रहा हो तब उसके पैर का चिह्न देखकर अनुमान करने की क्या आवश्यकता है। यज्ञ के प्रयोजन से तो काम आदि ग्रन्थियों की प्रबलता श्रुति भी मानती ही है। अतः कर्मविधि शरीरपरक है, इससे आत्मा का बोध नहीं होता है। अतः कर्मविधि ज्ञान का साधन नहीं है।

इस प्रकार कर्म और ज्ञान के सम्बन्ध में जो दूसरा मत कहा गया है कि कामनाओं की पूर्ति हो जाने पर उससे निवृत्ति हो जाती है और वह ज्ञानाधिकारी हो जाता है, यह सही नहीं है क्योंकि एक तो कामना की पूर्ति से कामना नष्ट नहीं होती है बल्कि अधिक हो जाती है और दूसरी बात है कि यज्ञ का फल मिल जाने के बाद उसकी आकांक्षा समाप्त भी हो जाए, तो वह ज्ञान के लिए यत्न करेगा, इसका कोई प्रमाण नहीं है। साथ ही यदि हम मोक्ष के अधिकारी को भी कर्म का अधिकारी मान लेंगे तो सभी कर्म ज्ञान के साथ सम्बद्ध हो जायेंगे जो कि असम्भव है। अतः कर्मविधि और ज्ञानविधि के अधिकारी एक नहीं हो सकते।

अभी तक पूर्व पक्ष के रूप में यह चर्चा हुई है कि जो ज्ञान के अधिकारी हैं वे कर्म के अधिकारी हो जाते हैं। मण्डन मिश्र ने इस मत का खण्डन किया है। अब वे इसके विपरीत क्रम से एकाधिकार विषयक पूर्व पक्ष का विवेचन करते हुए कुछ दार्शनिकों का मत उपस्थापित करते हैं कि जो कर्म के अधिकारी हैं वे ज्ञान के अधिकारी भी हो जाते हैं। यह भी मण्डन मिश्र का अभीष्ट नहीं है।

(क्रमशः)

